विवेक-ज्योति

वर्ष ४३ अंक २ फरवरी २००५ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक २

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन, रायपुर' छत्तीसगढ़ - के नाम से ही बनवायें)

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(चौबीसवीं तालिका)

९२०. डॉ. मनीष खांडारे, आनन्द नगर, जबलपुर (म.प्र.)
९२१. स्वामी परसेवानन्द, रामकृष्ण मठ, बाँकुड़ा (प.बं.)
९२२. श्री संदीप चक्रवर्ती, सन्तोषपुर, हावड़ा (प.बं.)
९२३. डॉ. एस. एस. पेसिकर, अरेरा कालोनी, भोपाल (म.प्र.)
९२४. कैप्टेन अविनाश पी. कोल्हटकर, पुणे (महा.)
९२५. श्री रजनीश श्रीवास्तव, अमेरी रोड, बिलासपुर (छ.ग.)
९२६. श्रीरामेश्वर लिलहरे, लाखे नगर, रायपुर (छ.ग.)
९२७. स्वामी यतीशानन्द, सारदापीठ, बेलूड़ मठ, हावड़ा (प.बं.)
९२८. श्री पीयूष त्रिपाठी, प्रियदर्शिनी नगर, बिलासपुर (छ.ग.)
९२९. श्री टी. के. चटर्जी, ११६-एम.पी. नगर, कोरबा (छ.ग.)
९३०. श्री श्रीचन्द दयलानी, कोरबा रोड, बिलासपुर (छ.ग.)
९३१. श्रीमती अलका छाबड़िया, नलघर, रायपुर (छ.ग.)
९३२. श्री विवेक विष्णु हम्बर्डे, उस्मानपुरा, औरंगाबाद (महा.)
९३३. होली हार्टस स्कूल, सिविल लाइन, रायपुर (छ.ग.)
९३४. तिरुपति मिल्स, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महा.)
९३५. तिरुपति उद्योग, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महा.)
९३६. श्री मनीष मिल्स, इचलकरंजी, कोल्हापुर (छ.ग.)
९३७. श्री अनिल रंजन साहू, मेन रोड, छिन्दवाड़ा (महा.)
९३८. सुश्री मेधा योगेश लडिया, पिंकी अपार्टमेन्ट, कोलकाता
९३९. सुश्री नेहा तिवारी, सेक्टर-११/१२, पानीपत (हरियाणा)
९४०. सुश्री नीलोत्तमा श्रीवास्तव, अशोक मार्ग, लखनऊ (उ.प्र.)
९४१. श्री के. सी. भारद्वाज, लिंगयाडीह, बिलासपुर, (छ.ग.)
९४२. श्री प्रह्लाद सिंह शेखावत, गाँधी कालोनी, बीकानेर (राज.)
९४३. डॉ. धीरेन्द्र साव, ५४ आनन्द नगर, रायपुर (छ.ग.)
९४४. स्वामी सुखानन्द, रामकृष्ण मिशन आश्रम, कोलकाता
९४५. श्री मदन धनकर, विद्यानगर, चन्द्रपुर (महा.)
९४६. श्री दिनेश कुमार अग्रवाल, अग्रसेन चौक, रायपुर (छ.ग.)
९४७. श्री एस. एन. भद्रा, विनोबा नगर, बिलासपुर (छ.ग.)
९४८. श्री अशोक कुमार तिवारी, लिटिल होम, बालाघाट (म. प्र.)
९४९. डॉ. सन्तोष प्रेमसुख भट्टल, माँ हॉस्पीटल, वाशीम (महा.)
९५०. श्रीमती ममता शि. चौरसिया, भंगरवाड़ी, पूणे (महा.)
९५१. श्री वी. एस. चौरसिया, गौतम नगर, भोपाल (म.प्र.)
९५२. श्री अशोक कोठारी, सदर बाजार, रायपुर (छ.ग.)
९५३. श्रीमती कल्पना शर्मा, एस. ए. एफ. लाइन्स, दुर्ग (छ.ग.)
९५४. स्वामी तन्निष्ठानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर (महा.)
९५५. ब्र. प्रबोध चैतन्य, बागबहरा, महासमुन्द (छ.ग.)
९५६. श्री दयाल बोहरा, प्रताप नगर, एच. बोर्ड, जोधपुर (राज.)
९५७. श्री संदीप कुमार दुबे, ९९ गोयल नगर, इन्दौर (म. प्र.)
९५८. श्री राहुल शुक्ला, ७५ बी. एम., सुकल्पा, इन्दौर (म. प्र.)
९५९. श्री सतीश बघेल, गुरुकुल रोड, वृन्दावन (उ.प्र.)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वैराग्य-शतकम्

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालिं कपालिं
ह्यादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठे ।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदर-दरी-पूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणैः सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ।।२३।।

अन्वय – क्षुधा-आर्तः मानी न्याय-गर्भ द्विज-हुत हुतभुक् धूमधूम्र-उपकण्ठे पुण्ये महति ग्रामे वा वने सित-पट-च्छन्न-पालिं कपालिं हि आदाय उदर-दरी-पूरणाय अनुदिनं (भिक्षार्थं) द्वारं द्वारं प्रविष्टः प्राणैः सनाथः वरम् पुनः तुल्यकुल्येषु दीनः न ।।

भावार्थ – स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए अपने समान कुलवाले लोगों के बीच दीन भाव से रहना उचित नहीं । इससे तो अच्छा यह है कि भूख लगने पर वह अपनी पेटरूपी गुफा को भरने के लिए, शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों द्वारा किये जा रहे यज्ञों के धुँवे से काले हुए पुनीत गाँवों या विशाल वनों में, किनारों तक श्वेत वस्त्र से ढँके हुए भिक्षापात्र के साथ, प्रतिदिन द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा माँगकर प्राणरक्षा करे ।

गङ्गा-तरंग-कण-शीकर-शीतलानि
विद्याधराध्युषित चारु-शिला-तलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमान-पर-पिण्ड-रता मनुष्याः ।।२४।।

अन्वय – गङ्गा-तरंग-कण-शीकर-शीतलानि, विद्याधर-अध्युषित-चारु-शिला-तलानि, हिमवतः स्थानानि किं प्रलयं गतानि, यत् मनुष्याः स-अवमान-पर-पिण्ड-रता ।।

भावार्थ – क्या हिमालय में स्थित गंगा-तरंगों की फुहारों से शीतल, मनोहर शिला-पृष्ठों से युक्त विद्याधरों के निवास लुप्त हो गये हैं? तो फिर लोग क्यों अपमान-सहित प्राप्त होनेवाले दूसरों से प्राप्त होनेवाले अन्न के लिए प्रयास करते रहते हैं !

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(वागेश्री – रूपक)

हे प्रभो श्रीरामकृष्ण, आप जग के नाथ हैं ।
जो भटकते विषय-वन में, वे गरीब-अनाथ हैं ।।

तर चुके हैं हम कभी के, मोहमय संसार से ।
मुक्त हैं हम शरण लेकर, हर तरह के भार से ।
शीश पर अपने सतत,
आशीष के तव हाथ हैं ।। जो भटकते. ।।

हो समर्पित प्राण-जीवन, दीन-जन उद्धार में ।
नित्य सेवा में लगे हम, पीड़ितों के प्यार में ।
भय नहीं है अब कहीं भी,
आप प्रतिपल साथ हैं ।। जो भटकते. ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा – कहरवा)

हे रामकृष्ण, हे करुणामय,
अन्तर में तुम्हारा धाम रहे ।
जीवन के द्वन्दों में प्रतिपल,
होठों पे तुम्हारा नाम रहे ।।

अब दिन बीतें प्रारब्ध-चलित,
तुम ही देखोगे मेरा हित ।
करने को नहीं अपना कुछ भी,
हाथों में तुम्हारा काम रहे ।।

दो दिन के साथी दारा-सुत,
बन्धनकारी हैं बहुत-बहुत ।
अब सौंप दिया सब-कुछ तुमको,
चाहे जो भी अंजाम रहे ।।

सुख-दुख से पूरित तन-मन है,
पल-पल क्षय होता जीवन है ।
जब मैं 'विदेह' प्रस्थान करूँ,
चरणों में ही विश्राम रहे ।।

– *विदेह*

शिक्षा-प्राप्ति के उपाय

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

शिक्षा-ग्रहण का मनोविज्ञान

मन को यदि हम इन्द्रियों के साथ युक्त न करें, तो हमें आँख-कान-नाक आदि इन्द्रियों के द्वारा किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। मन ही इन बाह्य इन्द्रियों का उपयोग करता है।[३१] प्रत्येक इन्द्रिय के बारे में समझना होगा कि पहले तो इस स्थूल शरीर में बाह्य यंत्र स्थित हैं और उनके पीछे, इस स्थूल शरीर में ही इन्द्रियाँ भी मौजूद हैं। पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। मान लो, मैं तुमसे कुछ कह रहा हूँ और तुम बड़े ध्यान से मेरी बात सुन रहे हो। तभी यहाँ एक घण्टा बजता है और शायद तुम उस घण्टे की ध्वनि को नहीं सुन पाते। यह शब्द-तरंग तुम्हारे कानों में पहुँचकर कान के परदों पर आघात करती है, नाड़ियों के द्वारा यह संवाद मस्तिष्क में पहुँचा, तो भी तुम उसे नहीं सुन सके। ऐसा क्यों? यदि मस्तिष्क में आवेग पहुँचने से ही सुनने की सारी क्रिया पूरी हो जाती है, तो फिर तुम क्यों नहीं सुन सके? किसी अन्य घटक का अभाव था, मन इन्द्रिय से जुड़ा नहीं था। मन जिस समय इन्द्रियों से पृथक् रहता है, उस समय वह इन्द्रियों द्वारा लाये गये किसी भी संवाद को ग्रहण नहीं करता। जब मन उनसे युक्त रहता है, तभी वह किसी भी संवाद को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

पर इससे भी विषयानुभूति पूर्ण नहीं हो जाती। बाह्य यंत्र भले ही संवाद ले आयें, इन्द्रियाँ भले ही उसे भीतर ले जायें और मन इन्द्रियों से संयुक्त रहे, तो भी विषयानुभूति पूर्ण न होगी। एक और वस्तु आवश्यक है – भीतर से प्रतिक्रिया भी होनी चाहिए। प्रतिक्रिया से ज्ञान होगा। बाहर की वस्तु ने मानो मेरे अन्दर संवाद-प्रवाह भेजा। मन ने उसे ले जाकर बुद्धि के निकट अर्पित कर दिया, बुद्धि ने पहले से बने हुए मन के संस्कारों के अनुसार उसे सजाया और बाहर की ओर एक प्रतिक्रिया-प्रवाह भेजा। बस, इस प्रतिक्रिया के साथ ही विषयानुभूति होती है। मन की जो स्थिति इस प्रतिक्रिया को भेजती है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं।

पर इससे भी विषयानुभूति पूर्ण नहीं हुई। मान लो, एक कैमरा है और एक परदा। मैं इस परदे पर एक चित्र डालना चाहता हूँ। तो मुझे क्या करना होगा? मुझे उस यंत्र से नाना प्रकार की प्रकाश-किरणों को इस परदे पर डालने का और उन्हें एक स्थान में एकत्र करने की चेष्टा करनी होगी। इसके लिए एक अचल वस्तु की जरूरत है, जिस पर चित्र डाला जा सके। किसी चलनशील वस्तु पर ऐसा करना असम्भव है – कोई स्थिर वस्तु चाहिए; क्योंकि मैं जो प्रकाश-किरणें डालना चाहता हूँ, वे सचल हैं और इन सचल प्रकाश-किरणों को किसी अचल वस्तु पर एकत्र, एकीभूत, समन्वित और सम्पूरित करना होगा। यही बात उन संवेदनों के विषयों में भी है, जिन्हें इन्द्रियाँ मन के निकट और मन बुद्धि के निकट समर्पित करता है। जब तक ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल जाती, जिस पर यह चित्र डाला जा सके, जिस पर ये भिन्न भिन्न भाव एकत्रीभूत होकर मिल सकें तब तक यह विषयानुभूति पूर्ण नहीं होती। वह कौन-सी वस्तु है, जो समुदाय को एकत्व का भाव प्रदान करती है? वह कौन-सी वस्तु है, जो विभिन्न गतियों के भीतर भी प्रतिक्षण एकत्व की रक्षा करती है? वह कौन-सी वस्तु है, जिस पर भिन्न-भिन्न भाव मानो एक ही जगह गुँथे रहते हैं, जिस पर विभिन्न विषय आकर मानो एक जगह वास करते हैं और एक अखण्ड भाव धारण करते हैं?

हमने देखा कि इस प्रकार की कोई वस्तु अवश्य चाहिए और उस वस्तु का, शरीर और मन की तुलना में, अचल होना जरूरी है। जिस परदे पर यह कैमरा चित्र डाल रहा है, वह इन प्रकाश-किरणों की तुलना में अचल है। यदि ऐसा न हो, तो चित्र पड़ेगा ही नहीं। अर्थात् उस वस्तु को, उस द्रष्टा को एक व्यक्ति (individual) होना चाहिये। जिस वस्तु पर मन यह सब चित्रांकन करता है, जिस पर मन-बुद्धि द्वारा ले जायी गयी हमारी संवेदनाएँ स्थापित, श्रेणीबद्ध और एकत्रीभूत होती है, बस, उसी को मनुष्य की 'आत्मा' कहते हैं।[३२]

थोड़ा और गम्भीर भाव से इस तत्त्व पर विचार करो। मैं अपने सम्मुख यह सुराही देख रहा हूँ। यहाँ पर क्या हो रहा है? इस सुराही से कुछ प्रकाश-किरणें निकलकर मेरी आँखों में प्रवेश करती हैं। वे मेरे नेत्रपटल (retina) पर एक चित्र अंकित करती हैं। और यह चित्र मेरे मस्तिष्क में पहुँचता है।
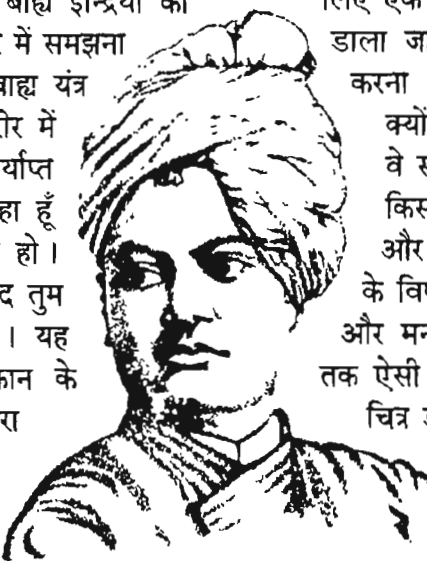
शरीर-वैज्ञानिक जिसे संवेदक नाड़ी (sensory nerves) कहते हैं, उन्ही के द्वारा यह चित्र मस्तिष्क में ले जाया जाता है। परन्तु तब भी देखने की क्रिया पूरी नहीं होती, क्योंकि अभी तक भीतर की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई है। मस्तिष्क में स्थित जो स्नायु-क्रेन्द्र है, वह इस चित्र को मन के पास ले जायेगा और मन उस पर प्रतिक्रिया करेगा। इस प्रतिक्रिया के होते ही सुराही मेरे सम्मुख प्रकाशित हो जायेगी। ... प्रतिक्रिया होते ही उसका ज्ञान होगा और तभी हम देखने, सुनने और अनुभव करने में समर्थ होंगे। इस प्रतिक्रिया के साथ-साथ ही ज्ञान का प्रकाश होता है।[३३]

आप लोग जानते हैं कि विषयों की अनुभूति किस प्रकार होती है। सबसे पहले, इन्द्रियों के द्वार-स्वरूप ये बाहर के यंत्र हैं, फिर हैं भीतर की इन्द्रियाँ। ये इन्द्रियाँ मस्तिष्क में स्थित स्नायु-केन्द्रों की सहायता से शरीर पर कार्य करती हैं। इसके बाद है मन। जब ये सभी एकत्र होकर किसी बाह्य वस्तु के साथ जुड़ जाते हैं, तब हम उस वस्तु का अनुभव कर सकते हैं। परन्तु मन को एकाग्र करके केवल किसी एक इन्द्रिय से जोड़कर रखना बड़ा कठिन है, क्योंकि मन विषयों का दास है।

चित्त-संयम और एकाग्रता

हम संसार में सर्वत्र देखते हैं कि सभी शिक्षा दे रहे हैं कि 'अच्छे बनो ! अच्छे बनो ! अच्छे बनो !' सम्भवत: संसार के किसी भी देश में कोई भी ऐसा बालक नहीं पैदा नहीं हुआ, जिसे झूठ न बोलने, चोरी न करने आदि की शिक्षा न मिलीं हो, पर कोई उसे यह शिक्षा नहीं देता कि वह इन बुरे कर्मों से किस प्रकार बचे। केवल बात करने से काम नहीं बनता। वह चोर क्यों न बने? हम तो उसको चोरी से बचने की शिक्षा नहीं देते, उससे बस, इतना ही कह देते हैं, 'चोरी मत करो।' यदि उसे मन:संयम का उपाय सिखाया जाय, तभी उसे सच्ची शिक्षा प्राप्त हो सकता है, वही उसकी सच्ची सहायता और उपकार है। जब मन इन्द्रिय नामक भिन्न-भिन्न स्नायु-केन्द्रों में जुड़ा रहता है, तभी समस्त बाह्य और आन्तरिक कर्म होते हैं। इच्छा या अनिच्छापूर्वक व्यक्ति अपने मन को भिन्न-भिन्न (इन्द्रिय नामक) केन्द्रों में संलग्न करने को बाध्य होता है। इसीलिए व्यक्ति तरह-तरह के दुष्कर्म करता है। और बाद में कष्ट पाता है। मन यदि अपने वश में रहता, तो व्यक्ति कभी अनुचित कर्म न करता। मन को संयत करने का फल क्या है? यही कि मन संयत हो जाने पर, वह फिर विषयों का अनुभव करनेवाली भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ अपने को संयुक्त नहीं करेगा। और ऐसा होने पर सब प्रकार की भावनाएँ और इच्छाएँ हमारे वश में आ जायँगी।[३४]

ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है एकाग्रता। रसायन-शास्त्री प्रयोगशाला में जाकर अपने मन की सारी शक्तियों को केन्द्रीभूत करके जिन वस्तुओं का विश्लेषण करता है, उन पर प्रयोग करता है और इस प्रकार वह उनके रहस्यों को जान लेता है। ज्योतिर्विद् अपने मन की सारी शक्तियों को एकत्र करके दूरबीन के द्वारा आकाश में प्रक्षेपित करता है और सूर्य-चन्द्र और तारे उसके समक्ष अपने-अपने रहस्य खोल देते हैं। मैं जिस विषय पर बातें कर रहा हूँ, उस पर मैं जितना ही मनोनिवेश कर सकूँगा, उतना ही उस विषय का गूढ़ तत्त्व आप लोगों के समक्ष प्रकट कर सकूँगा। आप लोग मेरी बातें सुन रहे हैं और आप इस विषय पर जितना ही मनोनिवेश करेंगे, मेरी बातों की उतनी ही स्पष्ट रूप से धारणा कर सकेंगे।[३५] मोची यदि थोड़ा अधिक मन लगाकर काम करे, तो वह जूतों को अधिक अच्छी तरह से पालिश कर सकेगा। रसोइया एकाग्र होने से भोजन को अच्छी तरह पका सकेगा। अर्थ का उपार्जन हो या ईश्वर की उपासना – जिस काम में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह कार्य उतने ही अधिक अच्छे प्रकार से सम्पन्न होगा।[३६]

मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस विधि से संसार के ये सब ज्ञान उपलब्ध हुए हैं? यदि केवल इतना ज्ञात हो गया कि प्रकृति के द्वार को कैसे खटखटाया जाय – उस पर कैसे दस्तक दी जाय; तो बस, प्रकृति अपने सारे रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। **मानव-मन की शक्ति असीम है।** वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केंद्रित होती है; यही रहस्य है।[३७]

कोई बालक जब नया-नया पढ़ना आरम्भ करता है, तो वह एक एक अक्षर का दो-तीन बार उच्चारण करने के बाद ही पूरे शब्द का उच्चारण करता है। उस समय उसका ध्यान प्रत्येक अक्षर पर रहता है। परन्तु जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है तब उसकी दृष्टि अक्षर पर नहीं, बल्कि एक-एक शब्द पर पड़ती है। और वह अक्षरों पर ध्यान दिये बिना ही सीधे शब्द का बोध करता है। जब उसका अभ्यास और बढ़ जाता है, तो उसकी दृष्टि सीधे एक-एक वाक्य पर पड़ती है और उनके अर्थ का बोध होता जाता है। इसी अभ्यास में और भी वृद्धि हो जाने पर एक-एक पृष्ठ का ज्ञान होने लगता है। **यह, और कुछ नहीं, केवल अभ्यास, ब्रह्मचर्य और एकाग्रता का फल है।** प्रयास करने पर ऐसा कोई भी कर सकता है। आप प्रयास कीजिए तो आपको भी ऐसा ही फल मिलेगा।[३८] निम्नतम मनुष्य से लेकर सर्वोच्चयोगी तक को उसी उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है।[३९]

हमारे मतानुसार मन की सारी शक्तियों को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। बाह्य विज्ञानो में बाह्य विषयों पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञानों में मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन को इस

एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं। ... योगी कहते हैं कि **इस एकाग्रता-शक्ति का फल अत्यन्त महान् है।** उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के बल से संसार के सारे सत्य – बाह्य और अन्तर दोनों जगत् के सत्य – करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[४०] जब मन एकाग्र होता है और पीछे मोड़कर स्वयं पर ही केन्द्रित कर दिया जाता है, तो हमारे भीतर जो भी है, वह हमारा स्वामी न रहकर हमारा दास बन जाता है, यूनानियों ने अपने मन की एकाग्रता को बाह्य संसार पर केन्द्रित किया और इसके फलस्वरूप उन्होंने कला, साहित्य आदि में पूर्णता प्राप्त की। हिन्दुओं ने मन की एकाग्रता को अन्तर्जगत् और आत्मा के अगोचर क्षेत्र पर केन्द्रित किया और उसके फलस्वरूप योगशास्त्र का विकास हुआ।[४१] प्रत्येक वृत्ति का विकास-साधन इसी रूप में करना होगा कि मानो उस वृत्ति को छोड़ अन्य कोई हमारे लिए है ही नहीं – यह है तथाकथित सामंजस्यपूर्ण उन्नति-साधन का यथार्थ रहस्य – अर्थात् गम्भीरता के साथ उदारता का अर्जन करो, किन्तु उसे खो मत दो। हम अनन्त-स्वरूप हैं – हम सभी किसी भी प्रकार की सीमा के अतीत हैं। ... ऐसा करने का उपाय है – मन का किसी विषय-विशेष में प्रयोग न करके स्वयं मन का ही विकास करना और उसका संयम करना। ऐसा होने पर तुम उसे चाहे जिस ओर घुमा सकोगे।[४२] वेदान्त का आदर्श, जो यथार्थ कर्म है, वह अनन्त शान्ति के साथ जुड़ा है। किसी भी प्रकार की परिस्थिति में वह स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती – चित्त का वह साम्य-भाव कभी भंग नहीं होता। हम लोग भी बहुत कुछ देखने-सुनने के बाद यही समझ पाये हैं कि कार्य करने के लिए इसी तरह की मनोवृत्ति सर्वाधिक उपयोगी है।

एकाग्रता-प्राप्ति का उपाय – अभ्यास

हम लोग जितने अधिक शान्त होते हैं, उतना ही हमारा कल्याण होता है और हम काम भी अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। भावनाओं के अधीन हो जाने पर हम अपनी शक्तियों का अपव्यय करते हैं, अपनी स्नायुओं को विकृत कर डालते हैं, मन को चंचल बना डालते हैं, लेकिन काम बहुत कम कर पाते हैं। जिस शक्ति को कार्यरूप में परिणत होना उचित था, वह वृथा भावुकता मात्र में परिणत होकर नष्ट हो जाती है। जब मन अत्यन्त शान्त और एकाग्र रहता है, केवल तभी हमारी पूरी शक्ति सत्कार्य में व्यय होती है। यदि तुम कभी जगत् के महान् कार्यकुशल व्यक्तियों की जीवनी पढ़ो, तो देखोगे कि वे अद्भुत शान्त प्रकृति के लोग थे। कोई भी चीज उनके चित्त की स्थिरता को भंग नहीं कर पाती थी। अत: जो व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध, घृणा या किसी अन्य आवेग से अभिभूत हो जाता है, वह कोई काम नहीं कर पाता, अपने आपको चूर-चूर कर डालता है और कुछ भी व्यावहारिक नहीं कर पाता। **केवल शान्त, क्षमाशील स्थिर-चित्त व्यक्ति ही सर्वाधिक काम कर पाते हैं।**[४४]

ये इन्द्रियाँ मन की ही विभिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। मैं एक पुस्तक देखता हूँ। वस्तुत: यह पुस्तक-आकृति बाहर नहीं, मन में है। बाहर की कोई चीज उस आकृति को केवल जगा भर देती है; वास्तविक आकृति तो चित्त में ही है। इन्द्रियों के सामने जो कुछ आता है, वे उसके साथ मिश्रित होकर, उसी का आकार धारण कर लेती हैं। यदि तुम चित्त को ये सब विभिन्न आकृतियाँ धारण करने से रोक सको, तभी तुम्हारा मन शान्त होगा और इन्द्रियाँ भी मन के अनुरूप हो जायेगी।[४५] **तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्** – अभ्यास के द्वारा इसकी स्थिरता होती है। (पातंजल-योगसूत्र, विभूतिपाद, १०)। प्रतिदिन नियमित रूप से अभ्यास करने पर मन का यह नियत संयम प्रवाह के रूप में चलता रहता है तथा स्थिर हो जाता है और तब मन सदैव एकाग्रशील रह सकता है।[४६] **मन के एकाग्र हो जाने पर समय का कोई बोध न रहेगा।** जितना ही समय का बोध जाने लगता है, हम उतने ही एकाग्र होते जाते है। हम अपने दैनिक जीवन में भी देख पाते है कि जब हम कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन रहते है; तब समय की ओर हमारा बिल्कुल भी ध्यान नहीं रहता। जब हम पढ़कर उठते है, तो अचरज करने लगते हैं कि इतना समय बीत गया! **सारा समय मानो एकत्र होकर वर्तमान में एकीभूत हो जाता है।** इसीलिए कहा गया है कि भूत, वर्तमान और भविष्य आकर जितना ही एकीभूत होते जाते हैं, मन उतना ही एकाग्र होता जाता है।[४७] किसी एक विषय पर भी मन की एकाग्रता हो जाने पर, उस एकाग्रता को जिस विषय पर भी चाहो, उसी पर लगा सकते हो।[४८]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३१. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ७, पृ. ८४; **३२**. वही, खण्ड २, पृ. २३-२४; **३३**. वही, खण्ड २, पृ. १२७-२८; **३४**. वही, खण्ड १, पृ. ८३; **३५**. वही, खण्ड १, पृ. ४०; **३६**. वही, खण्ड ३, पृ. १५४; **३७**. वही, खण्ड १, पृ. ४१; **३८**. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २७७-७८; **३९**. वही, खण्ड ३, पृ. १५३; **४०**. वही, खण्ड १०, पृ. ३८३; **४१**. वही, खण्ड ४, पृ. १०६; **४२**. वही, खण्ड ७, पृ. ११५; **४३**. वही, खण्ड ८, पृ. ४; **४४**. वही, खण्ड ८, पृ. ५; **४५**. वही, खण्ड १, पृ. १८४; **४६**. वही, खण्ड १, पृ. १८८; **४७**. वही, खण्ड १, पृ. १८८; **४८**. वही, खण्ड ६, पृ. ४३।

राष्ट्रोन्नति के सोपान

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

राष्ट्र की उन्नति के लिए आलस्य और अन्धविश्वास, इन दो का सर्वथा त्याग करना होगा तथा हृदय को प्रेम और सहानुभूति से भरना होगा। आलस्य अकर्मण्यता को जन्म देता है और किसी भी सर्जनात्मक प्रेरणा को कुन्द कर देता है। आलस्य को इच्छाशक्ति द्वारा जीता जा सकता है। इच्छाशक्ति संसार में सबसे अधिक बलवती है। उसके सामने दुनिया की कोई चीज नहीं ठहर सकती। विशुद्ध और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। यह इच्छाशक्ति अपने ऊपर विश्वास करने से उत्पन्न होती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि अपने आप में विश्वास रखने का आदर्श हमारा सबसे बड़ा सहायक है। सभी क्षेत्रों में यदि अपने आप में विश्वास करना हमें सिखाया जाता और उसका अभ्यास कराया जाता, तो हमारी बुराइयों तथा दुःखों का बहुत बड़ा भाग आज तक मिट गया होता। वे आत्मविश्वास को धार्मिक प्रेरणा से भी ऊँचा दर्जा देते हैं, कहते हैं – ''पुराने धर्म कहा करते हैं कि वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, नया धर्म कहता है कि वह नास्तिक है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।'' यदि मानवजाति के आज तक के इतिहास में महान् पुरुषों और स्त्रियों के जीवन में सबसे बड़ी प्रवर्तक शक्ति कोई है, तो वह आत्मविश्वास ही है। गीता में भी अर्जुन को आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६/५

– ''मनुष्य अपने द्वारा अपना कल्याण करे, अपने को नीचे न गिरावे, क्योंकि वह स्वयं अपना मित्र भी है और शत्रु भी।'' तो यह जो स्वय पर विश्वास का, देश के समुज्ज्वल भविष्य पर विश्वास का पाठ है, यह राष्ट्रोन्नति का पहला सोपान है, जो आलस्य और अकर्मण्यता को पैरों तले रौंदता हुआ चलता है।

राष्ट्रोन्नति के दूसरे सोपान के रूप में हमें अन्धविश्वास और कुसस्कार का खात्मा करना होगा। अन्धविश्वास मानसिक दुर्बलता का परिचायक है और प्रगति का विरोधी है। अन्ध-विश्वास के कारण छल-कपट और जादू-फरेब हमारे लिए धर्म का अंग बन जाते है और हमारे विवेक को कुण्ठित कर देते हैं। आज हमें जिसकी आवश्यकता है, वह है लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु। हम ऐसा धर्म चाहते हैं, जो हमें 'मर्द' बना सके। हम ऐसे सिद्धान्त चाहते हैं, जो हमारी मनुष्यता का विकास कर सके। हम ऐसी सर्वांग-सम्पन्न शिक्षा चाहते हैं, जो हमारे मनुष्यत्व को प्रकट कर दे। हम सत्य के पक्षधर बनें, क्योंकि वही अन्धविश्वास का विनाश कर सकता है। और सत्य की कसौटी यह है - जो भी हमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनावे, उसे जहर की भाँति त्याग देना चाहिए, क्योंकि उसमें जीवनीशक्ति नहीं है। सत्य वह है, जो बलप्रद है, पवित्रता है, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर उसमें स्फूर्ति भर देता है। जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा अन्धविश्वास का निराकरण करेगी।

देश को ऊपर उठाने के लिए तीसरा सोपान है - प्रेम और सहानुभूति। देशभक्ति केवल नारेबाजी तक सीमित न हो, वह हमारी नसों में बहने वाले रक्त में मिल जाय और हमें देश के कल्याण के प्रति सदैव जागरूक रखे। अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी ने जो कहा था – "Ask not what the nation has done for you, ask what you have done for the nation." – यह न पूछो कि राष्ट्र ने तुम्हारे लिए क्या किया है, बल्कि यह पूछो कि तुमने राष्ट्र के लिए क्या किया - यही देशभक्ति की खरी कसौटी है। देश के प्रति व्यक्ति की भक्ति तीन स्तरों पर प्रकट होती है। पहले स्तर पर वह देश की समस्याओं का चिन्तन करता है, वह अपने हृदय से देशवासियों के लिए अनुभव करता है। दूसरे स्तर पर वह देश की दुर्दशा के निवारण तथा उसकी समस्याओं को दूर करने के उपाय खोजता है। तीसरे स्तर पर वह उन उपायों के कार्यान्वयन में जी-जान से लग जाता है। बस, ऐसी ही लगन और निष्ठा, दृढ़ मनोबल और इच्छाशक्ति, आलस्य और कुसंस्कारों को दूर कर देश को ऊपर उठा सकती है। ❑

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ४१ –

नारद का गर्वनाश

एक बार नारद के मन में अभिमान पैदा हुआ, 'मेरे जैसा भगवान का भक्त दूसरा कोई नहीं है।' अन्तर्यामी भगवान नारद का यह भाव समझ गए। नारद का गर्व दूर करने की इच्छा से उन्होंने कहा, "नारद, तुम जरा अमुक जगह पर जाओ। वहाँ मेरा एक भक्त रहता है, उससे मिलकर आओ।" नारद ने वहाँ जाकर देखा कि भगवान का वह भक्त एक किसान था। वह किसान बड़े सबेरे उठकर केवल एक बार हरि-नाम का उच्चारण करने के बाद हल लेकर खेत में चला जाता था। दिन भर खेत में काम करने के बाद वह रात को घर लौटकर भोजन आदि करने के बाद एक बार फिर हरि-नाम लेकर सो जाता था। यह सब देखकर नारदजी विशेष प्रभावित नहीं हुए।

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, "वाह रे भगवान! आपने भी किस गँवार को अपना सबसे बड़ा भक्त बताया? मुझे तो इसमें भक्त के कोई लक्षण नहीं दिखते।" नारदजी ने भगवान के पास लौटकर अपना मनोभाव व्यक्त कर दिया।

प्रभु बोले, "नारद, तुम जरा इस तेल से भरी कटोरी को हाथ में लेकर इस नगर की परिक्रमा कर आओ, परन्तु ध्यान रहे – कटोरी से तेल की एक बूँद भी छलकने न पाए।"

भगवान के आदेशानुसार नारदजी हाथ में तेल का कटोरा लिये नगर की परिक्रमा कर आए। उनके लौट आने के बाद भगवान ने पूछा, "अच्छा नारद, जरा बताओ तो – नगर की परिक्रमा करते समय तुमने कितनी बार मेरा स्मरण किया?" नारद बोले, "प्रभो, मैं तो आपका एक बार भी स्मरण नहीं कर सका। करता भी तो कैसे? आपने मुझे जो तेल की कटोरी दी थी, वह लबालब भरी हुई थी। मेरा पूरा ध्यान इसी बात पर लगा हुआ था कि उसमें से कहीं तेल छलक न जाय और इस कारण मुझे बहुत ही सम्हल-सम्भलकर चलना पड़ा।" भगवान बोले, "नारद, बस एक कटोरी तेल के भय से तुम्हारे जैसा महान् भक्त मुझे पूरी तौर से भूल गया! और दूसरी ओर उस बेचारे किसान के बारे में तो जरा सोचो, जो अपने परिवार की आजीविका चलाते हुए, अपने सिर पर घर-गृहस्थी का पूरा भार ढोते हुए भी दिन में कम-से-कम दो बार तो मेरा स्मरण कर ही लेता है!"

यह सुनकर नारदजी की आँखें खुल गयीं। वे समझ गये कि उनका प्रभु के सबसे बड़े भक्त होने का उनका अहंकार तोड़ने के लिए ही उन्होंने यह लीला रची थी।

गृहस्थी में रहकर भी जो लोग साधना कर सकते हैं, वे ही यथार्थ में वीर-साधक हैं। जैसे बलवान व्यक्ति अपने सिर पर भारी बोझ लदा रहे, तो भी दूसरी ओर गर्दन मोड़कर देख सकता है, वैसे ही वीर-साधक भी अपने सिर पर गृहस्थी का भारी बोझ लदा होने के बावजूद भगवान की ओर देख सकता है अर्थात् उनकी उपासना कर सकता है।

– ४२ –

पहले खुद समझो

एक बार एक पण्डितजी राजा के पास गये और कहा, "महाराज, मैं आपको भागवत सुनाना चाहता हूँ, क्या आप सुनेंगे?" राजा ने कहा, "महाराज! आपने स्वयं भागवत को भलीभाँति समझ लिया है क्या? कृपया उसे अच्छी तरह पढ़ने के बाद आकर मुझे समझाएँ।"

पण्डितजी चिढ़कर लौटे। उन्होंने सोचा, "राजा कैसा निर्बुद्धि है! मैंने इतने वर्षों तक भागवत का पाठ किया है और यह कहता है कि फिर पढ़कर आइये।" परन्तु उनमें राजा की बात के ऊपर कुछ कहने की सामर्थ्य तो थी नहीं। निदान घर लौटकर उन्होंने एक बार फिर भागवत का पाठ शुरू किया। पढ़ते हुए वे हँसते और सोचते, "राजा भी कैसा मूर्ख है; मेरे लिए अब इसमें समझने को भला बाकी ही क्या रह गया है?"

कुछ दिनों में भागवत का पूरा पारायण करने के बाद पण्डितजी फिर राजा के पास गये और बोले, "महाराज, अब मुझसे भागवत सुनिए।" राजा ने पण्डित से नित्य भागवत सुनना आरम्भ किया। प्रतिदिन का पाठ समाप्त हो जाने पर पण्डितजी पूछते, 'महाराज, आप समझे?" राजा भी रोज कहता, "पहले आप खुद समझिये।" पण्डितजी राजा के सामने तो कुछ बोल नहीं पाते थे। परन्तु मन-ही-मन खूब नाराज होकर लौटते। घर लौटते समय वे सोचते, "राजा मुझसे प्रतिदिन ऐसा क्यों कहता है? मैं तो हर रोज इतना पढ़ता-समझता हूँ और राजा उल्टे कहता है कि 'पहले तुम खुद समझिये', अवश्य ही इसमें कुछ गूढ़ तात्पर्य है।"

पण्डितजी थोड़ा साधन-भजन भी करते थे। कुछ दिनों बाद उनके मन में जागृति हुई। अब वे भागवत का जितना ही पाठ करने लगे, उनके मन में उतने ही नए-नए भाव उदित होने लगे। उसने राज-भवन में जाना छोड़ दिया। वे अपने कमरे में अकेले बैठकर भाव-विभोर होकर भागवत पढ़ते और भक्ति-भाव से व्याकुल हो रोने लगते। उन्होंने समझ लिया कि एकमात्र ईश्वर ही सार-वस्तु हैं और बाकी

सब कुछ – घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, मान-मर्यादा – असार हैं। संसार में सब विषय मिथ्या प्रतीत होने के कारण उनके मन में वैराग्य का उदय हुआ और उन्होंने संसार छोड़ दिया। जाते समय वे केवल एक आदमी से कह गये – "राजा से कह देना कि अब वे समझ गये हैं।"

शास्त्रों के उपदेश केवल दूसरों को सुनाने और आजीविका चलाने के लिए नहीं, बल्कि स्वयं समझने तथा अपने जीवन में उतारने के लिए हैं। उन्हें पढ़कर जीवन में विवेक-वैराग्य का उदय हो, तभी उनका पढ़ना-पढ़ाना सार्थक है।

– ४३ –

हीरे की परख

एक रईस ने अपने नौकर को बुलाकर कहा, "यह हीरा तू बाजार में ले जा और लौटकर मुझे बताना कि इसकी कौन कितनी कीमत आँकता है। पहले बैगनवाले के यहाँ जा।"

नौकर बैगन बेचनेवाले कुजड़े की दुकान पर जा पहुँचा। दुकानदार ने उसे हाथ पर रखा और उलट-पुलटकर देखा। इसके बाद वह बोला, "भाई, पत्थर तो अच्छा दिखता है, बाट-बटखरे आदि के काम आ जायेगा। इसके बदले मैं तुमको नौ सेर बैगन दे सकता हूँ।" नौकर ने कहा, "भाई, जरा-सा और बढ़ाओ, दस सेर तो दे ही दो।" वह बोला, "मैं पहले ही बाजार-दर से ज्यादा कह चुका हूँ। इतने में पटे तो दे दो, नहीं तो अपना रास्ता देखो।" नौकर हँसते हुए बाबू के पास लौट आया और कहने लगा, 'बैगनवाला तो नौ सेर से एक बैगन भी ज्यादा नहीं देना चाहता। कहता है – पहले ही बाजार-दर से ज्यादा कह चुका हूँ।"

मालिक ने मुस्कुराते हुए कहा, "ठीक है, बैगनवाला तो बैगनों में ही पड़ा रहता है, वह भला हीरे की कीमत क्या समझे। अब तू इसे कपड़ेवाले बजाज की दुकान में ले जाकर पूछ। कपड़ेवालों की पूँजी कुछ अधिक हुआ करती है, जरा देखें – उसका क्या कहना है।" नौकर बजाज के यहाँ जा पहुँचा। दुकानदार के हाथ में हीरा थमाकर उसने पूछा, "क्यों जी, यह चीज खरीदोगे? क्या कीमत मिलेगी?" कपड़ेवाले ने कहा, "हाँ, चीज तो अच्छी दिख रही है, इससे महिलाओं के लिए कोई गहना आदि बनवा लेंगे। इसके लिए मैं तुम्हें नौ सौ रुपये तक दे सकता हूँ।" नौकर ने कहा, "भाई, कुछ और बढ़ो, तो बेच दूँ। कम-से-कम हजार तो पूरा ही कर दो।" बजाज ने कहा, "अब और कुछ मत कहो, मैंने बाजार-दर से कुछ ज्यादा ही कह दिया है। नौ सौ रुपये से एक पाई भी अधिक नहीं दे सकूँगा। सौदा मंजूर हो, तो बोलो।" नौकर फिर मालिक के पास लौटा और हँसते हुए बोला, "कपड़ेवाला तो कहता है – नौ सौ से एक पाई भी ज्यादा न दूँगा। उसने भी कहा कि मैंने बाजार-दर से कुछ ज्यादा ही कह दिया है।"

तब उसके मालिक ने हँसते हुए कहा, "ठीक है, अब इसे जौहरी के पास ले जाओ। देखें, उसका क्या कहना है।" नौकर जौहरी के पास गया। जौहरी ने हीरे पर एक नजर भर डाली और तत्काल कह उठा – "इसके लिए मैं तुम्हें एक लाख रुपये दे दूँगा।"

मनुष्य अपनी बौद्धिक या आध्यात्मिक पूँजी के आधार पर ही किसी वस्तु या व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। ईश्वर के अवतार या किसी महापुरुष को पहचानना साधारण मनुष्य की क्षमता के परे है। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि श्रीराम के जीवन -काल में केवल बारह ऋषि ही उन्हें पहचान सके थे।

– ४४ –

आधुनिक जनक

एक बार एक आधुनिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति श्रीरामकृष्ण के साथ तर्क-वितर्क कर रहे थे। उसका मत था कि संसार में रहकर भी उससे निर्लिप्त रहा जा सकता है। श्रीरामकृष्ण बोले – "तुम लोगों के 'निर्लिप्त गृहस्थ' कैसे होते हैं, मैं जानता हूँ। सुनो – एक घर में एक गरीब ब्राह्मण कुछ सहायता माँगने गया। घर का मालिक ऐसा ही एक 'निर्लिप्त गृहस्थ' था। वह अपने हाथ में एक रुपया भी नहीं रखता था – सब कुछ पत्नी के हाथ में सौंप देता था। वह बोला, 'महाराज, आप व्यर्थ ही मुझसे माँग रहे हैं, मैं तो रुपए-पैसे छूता तक नहीं।' ब्राह्मण भी आसानी से छोड़नेवाला नहीं था, वह बड़ी चिरौरी-विनती करने लगा। घर के मालिक ने जब देखा कि यह तो नाछोड़-बन्दा है, तो बोला, 'ठीक है, आप कल आइए, देखता हूँ यदि आपके लिए कुछ कर सकूँ।' फिर उसने अन्दर जाकर पत्नी से कहा, 'देखो, एक गरीब ब्राह्मण बड़े संकट में है, उसे दस रुपये देना होगा।' सुनते ही पत्नी आपे से बाहर हो गयी और बोली, 'वाह ! तुम तो बड़े दाता बन गए ! रुपये-पैसे क्या घास-भूसे जैसे हो गए हैं कि जिसे चाहे दे दिया !' लालाजी सकपका कर विनती के स्वर में मन्द स्वर में कहने लगे, 'गरीब आदमी है, बड़ा पीछे पड़ा है, दस रुपये दिए बिना नहीं चल सकता।' मालकिन ने बड़ी हुज्जत के बात पाँच रुपये निकालकर झल्लाते हुए कहा, 'उतने तो मैं हरगिज नहीं दे सकूँगी। ये पाँच ले जाओ।' लालाजी तो 'निर्लिप्त संसारी' ठहरे ! और कोई चारा न देखकर पत्नी ने जो दिया, उन्होंने उसी को रख लिया और अगले दिन ब्राह्मण को दे दिया।

"तुम्हारे निर्लिप्त गृहस्थों का यही हाल है। उनका स्वयं का कोई बस नहीं चलता। वे गृहस्थी के काम-काज की ओर स्वयं ध्यान नहीं दे पाते, इसलिए सोचते हैं कि वे निर्लिप्त, अनासक्त हैं, पर वस्तुत: वे होते हैं जोरू के गुलाम, हमेशा पत्नी के इशारे पर चला करते हैं।" ❖(क्रमश:)❖

भरत-जन्म का उद्देश्य (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डितजी ने कोलकाता के संगीत-कला मन्दिर ट्रस्ट द्वारा आयोजित व्याख्यान-माला में 'भरत-चरित्र' पर कुछ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके पहले प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हमें यह अयोध्या के 'श्री रामायणम् ट्रस्ट' के सौजन्य से प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। – सं.)

सन्त तो 'मानस' में अनेक हैं, परन्तु भरत साधु हैं। 'मानस' में गोस्वामीजी जिनको परम उत्कृष्ट मानते हैं, उन्हीं के लिए 'साधु' शब्द का प्रयोग करते हैं। वे भरतजी तथा हनुमानजी जैसे कुछ विशेष पात्रों के लिए ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं। भरत तो साधु हैं –

भरत कहे मह साधु सयाने। २/२२७/५

और साधु का स्वभाव या कार्य यह है कि वह दूसरों का कार्य बनाये। तन-मन-वाणी से परोपकार में लगा रहे –

पर उपकार बचन मन काया।

साधु के द्वारा किसी का काम बिगड़ नहीं सकता। साथ-ही-साथ तीसरा शब्द है 'सयाने'। भले ही वे बोलते न हों, पर बड़े सयाने हैं, चतुर हैं! श्रीराम को जितना भरतजी जानते हैं, उतना अन्य कोई नहीं जानता और श्रीराम भी भरतजी को जितना जानते हैं, उतना दूसरा कोई नहीं जानता। इसीलिए चित्रकूट में भगवान ने कह दिया – भरत जो भी कहें, उसी को करने में भलाई है –

भरत कहहिं सोइ किएँ भलाई। २/२५९/८

इस पर गुरु वशिष्ठ बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गये। यह क्या हुआ? अच्छा, एक क्षण भी सत्य का, धर्म का आग्रह नहीं कर पाया, सब भूलकर ऐसा कह रहा है। यहाँ तक कह दिया कि मेरे पिताजी तो बड़े महान् थे। वशिष्ठजी की यह मान्यता थी कि विश्व-इतिहास में दशरथ के समान न तो कोई हुआ है और न होगा। इसलिए उन्होंने कह दिया था –

भये न होय न कोउ होनिहारा।
भूप भरत जस पिता तुम्हारा।।

और भगवान राम ने अनोखी बात कह दी। उन्होंने कहा – भरत, पिताजी ने मुझे त्यागकर सत्य को रख लिया और प्रेम की प्रतिज्ञा के लिए देहत्याग कर दिया –

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी।। २/२६४/६

पिताजी की प्रशंसा करने लगे, तो गुरुजी प्रसन्न हुए कि राम तो सचमुच पितृभक्त हैं। वे दशरथ जैसे महापुरुष की आज्ञा तो टालेंगे नहीं। वे यही सोच रहे थे कि शायद अब ये कहेंगे – भरत, चाहे कुछ भी हो, पर मैं पिताजी की बात को टाल नहीं सकता। पर यह सुनकर उन्हें कितना आश्चर्य हुआ होगा, जब श्रीराम ने कहा – भरत, मगर उनसे भी अधिक मैं तुम्हारा संकोच करता हूँ –

तासु बचन मेटत मन सोचू।
तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू।। २/२६४/७

तो यह मेरी घोषणा है – भरत जो कुछ कहेंगे, बस उसी के अनुसार चलने में सभी की भलाई है।

बेचारे देवता तो स्वर्ग में मूर्छित होने लगे। इतनी योजना बनाकर मन्थरा, सरस्वती आदि की सहायता से तो यह कार्य हुआ और भरत आये और कह दिया – भरत जो कुछ कहेंगे, बस उसी में सब की भलाई है। वे तो प्रभु को लौटा ले जाने को आये हैं, तो क्या वे लौट जायेंगे? अयोध्या के लोग नाच उठे – 'काम बन गया। अब भरत कहेंगे और प्रभु लौटेंगे।'

परन्तु एकमात्र प्रभु ही भरत को ठीक-ठीक जानते हैं। वे बोले – तुम जो कहोगे, वही मैं करूँगा। क्या उन्होंने कभी लक्ष्मणजी से भी ऐसी बात कही? भूलकर भी नहीं। उनसे कह देते, तो कभी वन में आ ही नहीं सकते थे। कितने ही काम, उन्हें रोकने पड़ते। पर भरतजी से तो यहाँ तक कह दिया – संकोच छोड़ दो, प्रसन्न मन से जो कह दो, उसे मैं मान लूँगा। और लोग प्रसन्न होकर सोच रहे हैं कि चलो काम बना, क्योंकि प्रभु तो सत्यवादी हैं और उन्होंने वचन भी दे डाला –

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि
कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन
सुनि भा सुखी समाजु।। २/२६४

प्रभु जानते थे कि भरत जीवन में सब छोड़ सकता है, पर संकोच नहीं। सारा रहस्य इसी में था। यह संकोच शील-गुण की अभिव्यक्ति हैं। शीलरहित लोग नि:संकोच हुआ करते हैं। संकोच का अर्थ यही तो हुआ कि सामनेवाले के मन में कोई क्षोभ या कष्ट न हो। यही शील की वृत्ति है। **शीलवान स्वभावत: संकोची होता हैं।** शीलहीन लोग तो नि:संकोच होते ही है, क्योंकि वे सत्य के नाम पर या किसी अन्य बहाने मुँहफट होकर कुछ भी कह देते हैं। और यहाँ प्रभु भरतजी से कह रहे हैं – संकोच छोड़कर कह दो।

यहाँ एक प्रसंग स्मरण आता है – सारे विश्व पर प्रह्लाद का अधिकार हो गया था और तब स्वर्ग की भी सारी सम्पत्तियाँ तथा वैभव अनायास उनकी सेवा में चले आये। इन्द्र रुँआसे होकर भगवान के पास जाकर बोले – "बिना आक्रमण के ही इनका स्वर्ग पर अधिकार हो गया, सब इन्हीं की आज्ञा मानते हैं।" प्रभु ने हँसकर कहा – "मैं तो तुम्हारी ओर से लड़ूँगा नहीं और तुम लड़कर उन्हें हरा नहीं सकते। तुम उनके पास जाकर अपने स्वर्ग की सारी चीजें वापस माँग लो। वे दे देंगे।"

इन्द्र ब्राह्मण-वेश में गये। प्रह्लाद ने स्वागत किया। इन्द्र बोले – महाराज, आपसे कुछ याचना करने आया हूँ। – हाँ हाँ, माँगिए। – तो आप वचन देते हैं कि जो भी माँगूँगा, दे देंगे? – चेष्टा तो यही करूँगा। उन्होंने माँगना शुरू किया। पहले तो प्रह्लाद की सेवा में आया हुआ स्वर्ग का सारा वैभव माँगकर लौटा लिया। परन्तु अब लोभ जागा। क्यों न प्रह्लाद के पास जो सब है, वह भी माँग लें! वे कहने लगे – यह भी दे दीजिए, वह भी दे दीजिए। वे जो भी माँगते, प्रह्लाद कहते – अवश्य। प्रह्लाद ने सब दे दिया। और अन्त में इन्द्र ने कहा – अब अपना शील दे दीजिये।

प्रह्लाद ने मुस्कुराते हुए कहा – "महाराज, यह तो मैं नहीं दे सकता।" – "पर आपने वचन दिया था कि जो भी माँगूँगा, आप दे देंगे।" वे बोले – "इसको न मैं दे सकता हूँ और न इसे लेने में आपका भी हित है। मैं जानता हूँ, आप देवराज इन्द्र हैं और माँगने आये हैं, तो जब तक मेरे पास शील है, तभी तक तो मैं सब दे रहा हूँ। जब शील ही चला जायगा, तब तो क्या हम मारकर फिर आपसे छीन नहीं लेंगे? तब आप क्या करेंगे? अत: शीलरहित तो मैं नहीं हो सकता।" **यही सूत्र है – शीलवान होना, दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखना।**

सारा अयोध्या-काण्ड – परम शीलमय भगवान राम और परम शीलमय भरतजी – दोनों के शील की अद्भुत अद्वितीय पराकाष्ठा है। भगवान जब कहते हैं – तुम संकोच छोड़कर कहो! तब भी वे जानते थे – नहीं, यह जो शील का समुद्र है, शील का घनीभूत रूप है, ऐसा भरत संकोच छोड़ ही नहीं सकता। इसीलिए निश्चिन्त मन से ऐसा कह देते हैं।

और तब भरतजी ने उत्तर दिया – महाराज, आप कहते हैं – संकोच छोड़ दो, तो मैं जब संकोच छोड़ दूँगा, तो संकोच बेचारा कहाँ जायेगा। जिसको कहीं स्थान नहीं मिलता, वह तो आपके चरणों में जाता है। मेरा संकोच भी आपके पास चला जायेगा। फल यह होगा कि एक तो आप पहले से ही संकोची हैं और मेरा संकोच लेकर आप दूने संकोची हो जायेंगे। तो प्रभो, स्वामी को संकोच में डालकर अपनी कोई बात या इच्छा पूरी करा लूँ, यह तो मेरे लिए कभी सम्भव ही नहीं है –

जो सेवकु साहिबहि सँकोची।
निज हित चहइ तासु मति पोची ।। २/२६८/३

और तब भरतजी ने यह भी कह दिया – आप तो करुणा के समुद्र हैं, आपको जिसमें प्रसन्नता हो, वही कीजिए –

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई।
करुणा सागर कीजिअ सोई ।।

तो भरतजी का यह जो शील है, जिसे गुरु वशिष्ठ नहीं जानते, लक्ष्मण नहीं जानते, निषादराज नहीं जानते, कोई नहीं जानता; पर भगवान जानते हैं। जब उन्हें लगा कि अब तो मैं गया – यदि भरत कहेंगे, तब तो मुझे लौटना ही पड़ेगा। पर नहीं, भरत के सहारे ही मैं बच भी जाऊँगा।

प्रभु ने चिन्ता की और समाधान भी ढूँढ़ लिया। और लक्ष्मणजी का तो प्रभु से महान् प्रेम है। इतना स्नेह करते हैं, देख लिया कि प्रभु के मुख पर कुछ चिन्ता की रेखाएँ हैं। क्या कारण हो सकता है? उनके मन में सहज भाव से यही बात आई – "भरत जो सेना लेकर आ रहे हैं, तो क्या प्रभु के मन में चिन्ता हो गई कि अब भाई के विरुद्ध युद्ध करना होगा? भरत आक्रमण करने आ रहा है, इसलिए प्रभु स्वभाव से ही दुखी हो रहे हैं। क्या होने जा रहा है? क्या भरत से युद्ध करना ही नियति में लिखा है?"

प्रभु के मुख पर जो चिन्ता की रेखा-सी दिख रही है, उसे लक्ष्मणजी क्या एक क्षण के लिए भी सहन कर सकते हैं? तत्काल आवेश में आ गये। उलाहना देते हुए कहने लगे – "मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि आपसे कहूँ – वह भरत जिसके बारे में आपके कितने ऊँचे विचार रहे हैं ... "

क्योंकि भगवान राम के श्रोता तो लक्ष्मणजी ही हैं। प्रभु जब भरत का गुणानुवाद सुनाते होंगे, तो वे ही तो सुनते होंगे। तो लक्ष्मणजी ने उलाहना देते हुए कहा – "प्रभो, मैं भला क्या कहूँ, आप तो कहा करते थे कि भरत बड़े साधु है, नीति-कुशल हैं, बड़े गुणवान हैं, लेकिन आज क्या हो गया है? प्रसिद्ध है कि भरत राम के बड़े प्रेमी हैं और वे ही भरत इतने नीचे गिर गये कि आपका सिंहासन पाकर मर्यादा मिटाने चले हैं। सोच रहे हैं कि लक्ष्मण के साथ ही राम को भी मार डालूँगा और निष्कंटक होकर राज्य करूँगा। भरत ने राजनीति पर विचार नहीं किया। पहले तो हम लोगों पर केवल कलंक ही लगा था, पर अब तो जीवन की आशंका है। परन्तु चाहे सारे देवता और दैत्य योद्धा एकत्र हो जायँ, तो भी युद्ध में श्रीराम को नहीं हराया जा सकता" –

भरतु नीतिरत साधु सुजाना।
प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना।
तेऊ आजु राम पदु पाई।
चले धरम मरजाद मेटाई ।। २/२२८/२-३
जानहिं सानुज रामहि मारी।
करउँ अकंटक राज सुखारी ।।
भरत न राजनीति उर आनी।

तब कलंकु अब जीवन हानी ।।
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा ।
रामहि समर न जीतनिहारा ।। २/१८९/५-७

लक्ष्मणजी उलाहने की दृष्टि से प्रभु की ओर देखकर कहते रहे – "आप तो बड़े उदार हैं, पर मैं भी अपनी बात कहे बिना नहीं रहूँगा। उन दिनों की याद कीजिए, जब सरयू के तट पर खेल होता था। और खेल में आप भरत को जिता देते थे। आप अपने स्वभाव के कारण जिता तो देते थे, पर इससे भरत के मन में कितना भ्रम पैदा हो गया ! वे आज भी यही सोच रहे हैं कि जिसको नित्य खेल में हराता था, उसी को तो हराना है। आपने अपनी उदारता से उनका मस्तिष्क ही बिगाड़ दिया ! तब तो मैं सोचता था कि चलो जब आपको हारकर भी प्रसन्नता हो रही है, तो ठीक ही है। पर आज तो मैं दिखा दूँगा।"

अब प्रभु के सामने बड़ी जटिल समस्या थी ! लक्ष्मण का आवेश बढ़ता जा रहा था। उन्हें लगा कि प्रभु कुछ बोलना चाहते हैं। परन्तु उन्होंने एक वाक्य कहकर ही प्रभु का मुख बन्द कर दिया, कहा – मैं जानता हूँ। – क्या? – आप साक्षात् सर्वज्ञ ही नहीं, अपितु सर्वज्ञों में शिरोमणि हैं –

तुम्ह सर्बग्य सिरोमनि स्वामी ।
आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ।। २/२२७/८

– "जब तुम मुझे सर्वज्ञ मानते हो, तो क्या मुझसे पूछ नहीं सकते कि भरत कैसे हैं। बोले – बिल्कुल नहीं। – "बड़ी अद्भुत बात है। मुझे कोई यदि सर्वज्ञ न मानता हो और अपने विचार कहे, तो ठीक है। सर्वज्ञ माने और मुझसे पूछे, वह भी ठीक है, लेकिन तुम कहते हो – आप सर्वज्ञ ही नहीं, सर्वज्ञ-शिरोमणि हैं। और फिर कहते हो – मुझे जो समझ में आयेगा, कहूँगा, आपसे नहीं पूछूँगा। क्यों भई? क्या बात हो गई?" कहने लगे – महाराज, आपकी यह सर्वज्ञता किसी काम की तो है नहीं ! – क्यों? बोले – किसी के पास कोई बहुत अच्छा गुण हो और वह उसका कभी उपयोग ही न करे, तो वह किस काम का ! केवल कह सकते हैं कि उसके पास वह गुण है। इसलिए आपकी सर्वज्ञता तो किसी काम की नहीं है।

वे तो नहीं बोल रहे हैं। लक्ष्मणजी स्वयं ही प्रश्नोत्तर कर रहें हैं – क्या हुआ? एक तो आपकी सर्वज्ञता – वह तो सदा बन्द ही रहती है। और उसके साथ सर्वज्ञता का विरोधी आपके स्वभाव में जो गुण है। – कौन-सा? – आप सुहृद हैं, पवित्र है, सरल हैं, कोमल हैं, शील के निधान हैं। और प्रभाव से तो आप सर्वज्ञ-शिरोमणि हैं, परन्तु स्वभाव ठीक उल्टा है। क्योंकि सर्वज्ञ-शिरोमणि को तो यही चाहिए कि पता लगा ले कि कौन व्यक्ति कैसा है। परन्तु आपका तो स्वभाव है कि जो आया वह ठीक ही होगा –

नाथ सुहृद सुठि सरल चित
शील सनेह निधान ।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ
जानिअ आपु समान ।। २/२२७

आपका हृदय इतना अच्छा है कि आप सर्वज्ञता से कभी जाँच करते ही नहीं। अब यदि ऐसा सराफ मिल जाय कि कोई सोने की शक्ल में कुछ लेकर उसके पास आये और वह उसे बिना कसौटी पर कसे यह सोचकर रख ले कि सोना ही तो लाया होगा। उसके पास कसौटी तो अच्छी हो, पर वह उसका प्रयोग ही न करता हो, तो कसौटी से क्या लाभ !

गोस्वामीजी ने जब सुना, तो बोले – प्रभो, मैं भी आपकी शरण में आया हूँ। प्रभु ने पूछा – मेरे किस गुण से प्रभावित होकर आये हो। उन्होंने कहा – सुना है कि आप अच्छे पारखी नहीं हैं। – क्या? बोले – महाराज, जिसको शुद्ध वस्तु चलाना हो, असली सिक्का चलाना हो, तो वह कहीं भी चला जाता है, पर जिसको खोटा सिक्का चलाना हो, वह तो यही पता लगाता है कि किस दुकानदार को कम दिखता है और जो नोट को बिना देखे सीधे पेटी में डाल देता है।

इस विषय में लक्ष्मणजी और भरतजी – दोनों एकमत हैं। लक्ष्मणजी मानते हैं कि वे बिलकुल अच्छे पारखी नहीं हैं, गुण से भले ही सर्वज्ञ होंगे, पर हैं बिल्कुल भोले-भाले। यही बात आगे चलकर भरतजी ने चित्रकूट में कही। प्रभु ने कहा – भरत, तुममें तो कहीं पर पाप है ही नहीं। तुम्हारे समान कोई पुण्यात्मा तीनों कालों और तीनों लोकों में न तो कोई हुआ है, न अब है और न होगा –

तीनि काल त्रिभुवन मत मोरें ।
पुन्य-सिलोक तात तर तोरें ।। २/२६३/६

गुरु वशिष्ठ ने दशरथ जी के लिए जो कहा था, भगवान ने वही बात भरत के लिए चित्रकूट में कही। और भरतजी की प्रशंसा कर लेने के बाद उनकी ओर देखा। वे जानते हैं कि भरतजी तो अपने में कोई गुण मानते नहीं। बोले – भरत, बताओ, तुम मुझे सत्यवादी मानते हो या नहीं? भरतजी ने उत्तर दिया – प्रभो, आपके बारे में क्या कभी मैं ऐसी कल्पना भी कर सकता हूँ? – "तो, अब तुम नहीं कहोगे न कि तुम पापी हो? सुना है कि तुम यही कहते रहते हो। और मैं कहता हूँ कि तुममें तो अनगिनत गुण हैं।"

भरतजी ने उस समय उसी से मिलती-जुलती बात कही, जो लक्ष्मणजी ने कही थी – "प्रभो, आप सत्यवादी तो हैं, पर सत्यवादी का अर्थ यही तो होता है कि जैसा दिखाई दे वैसा कह दे। तो आपको जैसे दिखाई देता है, वैसा आप कहते हैं। जब आपके आँखों में दोष देखने की शक्ति ही न हो, तो आप अपनी समझ से सत्य ही कहते होंगे। प्रभो, केवल मैं ही नहीं, बल्कि आपकी रीति ही ऐसी है कि क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुबुद्धि, कलंकी, नीच, शीलहीन, नास्तिक और निडर – ऐसे लोगों ने भी कहीं आपका यह स्वभाव सुन लिया कि आप अच्छे पारखी

नहीं हैं, तो चले आये और आकर ज्योंही प्रणाम किया, तो आपने उन्हें भी यह कहकर अपना लिया – आओ भाई, आओ, तुम आये, बड़ा अच्छा हुआ, तुम तो बड़े अच्छे हो –

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी ।
नीच निसील निरीस निसंकी ।।
तेउ सुनि सरन सामुहें आए ।
सकृत प्रनामु किहें अपनाए ।। २/२९९/२-३

तो जब आपने उन्हें अपना लिया, तो आपको दोष दिखाई नहीं देते और मेरे विषय में आप जो कहते हैं, वह ठीक ही है। आपका यह कहना सत्य ही है कि आपको तो दोष दिखाई ही नहीं देते, तो फिर मेरे दोष कैसे दिखाई देंगे !

अब तो प्रभु के सामने बड़ी समस्या है। बोले – अच्छा, तो गुण देखना मुझे आता है न? – हाँ महाराज, गुण-दर्शन तो आपको आता है। परन्तु साथ ही भरतजी ने उलटकर पूछ लिया – अच्छा बताइये, अगर बन्दर सुन्दर नाचने लगे और तोता बढ़िया पाठ पढ़ने लगे, तो यह बन्दर और तोते की विशेषता है या उसे सिखाने-पढ़ानेवाले की? बोले – भई, वह तो सिखाने-पढ़ानेवाले की विशेषता है। – तो प्रभो, भरत तो बन्दर-तोता है, उसमें जो गुण हैं, वे तो आपके ही गुण हैं और दोष हैं तो मेरे हैं, पर आपको दिखाई नहीं देते –

पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना ।
गुन गति नट पाठक आधीना ।। २/२९९/८

दूल्हे का मौर बनानेवाला क्या करता है? वर के सिर पर कोई सोने और हीरे का मुकुट लगा दे, तो वह और बात है। परन्तु आपने देखा होगा कि साधारणतया मौर तो बड़ी साधारण चीजों से बनाये जाते हैं और उसे दूल्हे के सिर पर रख दिया जाता है। तो प्रभो, आप तो जिस पर कृपा करेंगे, उसे सिरमौर बना देंगे, बनाने की कला में आप बड़े निपुण हैं –

यों सुधारि सनमानि जन
किये साधु सिरमोर ।। २/२९९

प्रभु समझ गये कि भरत को हरा पाना असम्भव है।

तो लक्ष्मणजी ने कहा – मैं आपसे पूछूँगा कि भरत कैसे हैं, तो आप शुरू कर देंगे कि बड़े अच्छे हैं, बड़े सन्त हैं, आदि आदि, इसलिए पूछने की कोई जरूरत नहीं, आज तो मैं भरत को संग्राम में शिक्षा देकर आपके सेवक होने का यश प्राप्त करूँगा। जैसे सिंह हाथियों के झुण्ड को कुचल डालता है, जैसे बाज लवा नामक पक्षी को झपट लेता है, वैसे ही मैं भरत को उसकी सेना तथा भाई सहित युद्ध के मैदान में अपमानित करते हुए पछाड़ दूँगा –

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू ।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ।।
तैसेहिं भरतहि सेन समेता ।
सानुज निदरि निपातउँ खेता ।। २/२३०/६-७
आजु राम सेवक जसु लेऊँ ।
भरतहि समर सिखावन देऊँ ।। २/२३०/३

देवताओं को लगा कि कहीं लक्ष्मण युद्ध करने को प्रस्तुत हो गये, तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी। उन लोगों ने तुरन्त आकाशवाणी की – हे तात, तुम्हारे प्रभाव का प्रताप कौन कह सकता है और कौन जान सकता है? परन्तु सभी लोग किसी भी काम के उचित-अनुचित होने पर विचार करने के बाद ही उसे करने को उचित कहते हैं। वेद तथा ज्ञानीजन कहते हैं कि जल्दबाजी में कुछ करने से बाद में पछताना पड़ता है –

जगु भये मगन गगन भई बानी ।
लखन बाहुबलु बिपुल बखानी ।।
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा ।
को कहि सकइ को जाननिहारा ।।
अनुचित उचित काजु किछु होऊ ।
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ ।।
सहसा करि पाछे पछिताहीं ।
कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं ।। २/२३१/१-४

यह बात कानों में पड़ते ही लक्ष्मण संकुचित हो उठे और तब प्रभु और सीताजी ने उन्हें बड़े स्नेहपूर्वक पास बुलाया –

सुनि सुर बचन लखन सकुचाने ।
राम सीयँ सादर सनमाने ।। २/२३१/५

प्रभु ने बड़े प्रेम से कहा – लक्ष्मण, तुम तो मुझसे बड़ा स्नेह करते हो, पर यह बड़ी विचित्र बात है कि मुझ पर तो तुम्हारा विश्वास है नहीं और देवताओं ने कह दिया तो तुम्हें पूरा विश्वास हो गया कि भरत अच्छे हैं। लक्ष्मणजी बोले – प्रभो, **स्वार्थी लोगों को खोटे-खरे की अच्छी परख होती है ।** आप तो स्वार्थी हैं नहीं। अत: आपने कहा तो हम नहीं माने, पर इन्होंने कहा तो ठीक ही कहा होगा। मैंने मान लिया।

आये देव सदा स्वारथी ।

तो प्रभु ने भरत के विषय में अपने शील के अनुसार बोलना प्रारम्भ किया। उन्होंने लक्ष्मण के विचारों का खण्डन नहीं किया। बोले – लक्ष्मण, तुमने जो बात कही, वह बिलकुल ठीक है। प्रभु का पहला वाक्य था – तुमने बिलकुल ठीक नीति की बात कही है –

कही तात तुम्ह नीति सुहाई ।
सब तें कठिन राजमदु भाई ।। २/२३१/६

उन्होंने यह नहीं कहा कि यह क्या तुम बिना सोचे समझे व्यर्थ की बात बोल गये। वैसा नहीं कहा। यह शील है प्रभु का। कहने लगे – भाई, राज्य का मद सबसे कठिन मद है। **पद पाकर मद हो जाता है** – बड़ी सांकेतिक भाषा है।

यह न समझ लीजिएगा कि भाषा में कोई शब्द ऐसे ही बना दिया जाता है। एक बार कभी मेरे ही मन में एक प्रश्न आ गया कि शरीर में तो सबसे ऊँचा स्थान पद या पाँव का

नहीं, बल्कि सिर तथा मुख का है। तो जब किसी को सबसे उच्च स्थान मिले तब यह क्यों कहा जाता है कि राष्ट्रपति का पद मिला या प्रधानमंत्री का पद मिला? ऊँचा स्थान मिले, तो कहना चाहिए कि राष्ट्रपति का मुख प्राप्त हुआ, प्रधानमंत्री का सिर प्राप्त हुआ। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह 'पद' शब्द बहुत विचार करके चुना गया है। सिर भले ही सबसे ऊपर है, लेकिन पद का कार्य कि सारे शरीर का भार उठावे। मानो **पद पानेवाले को ध्यान रखना चाहिए कि उसे बोझ बनने के लिए नहीं, बोझ उठाने के लिए नियुक्त किया गया है।** यदि वह दूसरों का बोझ हल्का करता है, तब तो वह पद पद है और लद गया तब तो वह दूसरों के कन्धों पर सवार हो रहा है। इसमें संकेत यह है कि जब कोई गिरेगा तो पद से ही गिरेगा। जब आप फिसलेंगे, तो ऊँचाई से ही फिसलेंगे। ठीक से देखकर नहीं चले, पैर जरा-सा लड़खड़ाये तो आप गिरे। तो पद पाने के बाद जो सँभाल कर नहीं चलेगा, वह गिरेगा। स्वयं भी गिरेगा, स्वयं के शरीर में चोट आवेगी और जो लोग उसके आस-पास होंगे तथा उन पर लदे होंगे, वे भी गिरेंगे और उनको भी चोट आवेगी। और आपने देखा होगा। जो लोग बहुत शराब पी लेते हैं, चलते समय उनकी लड़खड़ाहट देखने योग्य होती हैं। तो ऐसा है पद और मद शब्द जो भगवान ने चुना –

सब तें कठिन राजमदु भाई।

संसार में यदि आप कोई शब्द बदलना चाहें, तो आपको काटना पड़ता है, उसके ऊपर नया अक्षर लिखना पड़ता है, परन्तु पद को मद बनाना हो, तो आपको कुछ करना नहीं होगा, पद को ज्यों-का-त्यों रहने दीजिए, बस पद में एक घुण्डी लगा दीजिए। और इसका अर्थ है कि पद में बस जरा-सा 'अहं' जोड़ दीजिए, तो मद हो गया। व्यक्ति द्वारा अभिमान की सुरा पी लेना ही उसका मद हुआ। भगवान ने कहा – तुम बिल्कुल ठीक कहते हो, पद पाकर अधिकांश लोग मदयुक्त हो जाते हैं। लक्ष्मणजी को बड़ा आश्चर्य हुआ – प्रभु तो समर्थन कर रहे हैं। परन्तु यह तो उनका बोलने का कौशल है। अब धीरे से उसे मोड़ा। वे आगे कहने लगे – परन्तु राजमद का आचमन करते ही वे लोग ही मतवाले हो जाते हैं, जिन्होंने कभी साधुसभा का सेवन नहीं किया –

जो अचवँत नृप मातहिं तेई।
नाहिन साधुसभा जेहिं सेई।। २/२३१/७

कहने लगे – लक्ष्मण, सुनो, ब्रह्मा-विष्णु या शंकर का पद पाकर भी भरत को मद हो ही नहीं सकता। क्या कभी दही की बूँदों से क्षीर-समुद्र फट सकता है –

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ।। २/२३१

प्रभु काव्यमय भाषा में धारा-प्रवाह बोलने लगे – अँधेरा भले ही सूर्य को निगल जाय, आकाश भले ही बादलों में समाकर मिल जाय, गोखुर से बने गड्ढे के जल में अगस्त्यजी भले ही डूब जायँ, पृथ्वी भले ही अपनी स्वाभाविक सहनशीलता को छोड़ दे, मच्छर के फूँकने से भले ही सुमेरु पर्वत उड़ जाय, परन्तु भरत को राजमद कभी हो ही नहीं सकता –

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई।
गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई।।
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी।
सहज छमा बरु छाड़ै छोनी।।
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई।
होई न नृपमदु भरतहिं भाई।। २/२३२/१-३

और गोस्वामीजी कहते हैं – एक नई बात हो गई। अभी तो भगवान पार हो गये थे, पर वर्णन करते-करते सहसा चुप हो गये? व्यक्ति जब डूबता है, तो चुप हो जाता है।

प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ।। २/२३२/८

कहते-कहते जो प्रभु स्वयं असीम कृपा-समुद्र हैं, भरत के प्रेम-समुद्र में डूब जाते हैं। वे भरत में ही डूबते हैं, उन्हीं को सहारा मानते हैं, उनके लिए भरत से बढ़कर कोई और प्रिय हो सकता – इसे प्रभु स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिए वे बार-बार स्पष्ट कह देते हैं – "कोई नहीं हो सकता।"

यह तो संसार की नीति के भी विरुद्ध है। यदि आप किसी के यहाँ भोजन करने जायँ और भोजन करते-करते कहें कि अमुक के यहाँ भोजन बहुत बढ़िया बना था, तो इसका अर्थ तो यही है न आपके यहाँ का भोजन किसी काम का नहीं। चित्रकूट में प्रभु एक दिन कहने लगे – लक्ष्मण, मैं तुम्हारी शपथ लेता हूँ और पिताजी की आन है। – क्या? – भरत के समान कोई भाई संसार में है ही नहीं –

लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना।

किससे कह रहे हैं? उस भाई से कह रहे हैं, जो सब कुछ छोड़कर आजीवन उन्हीं की सेवा में लगा हुआ हैं। और इसका अर्थ है कि प्रभु यहाँ पर बिल्कुल विह्वल हो जाते हैं और सदा वही स्मरण करते हैं।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – महाराज, इतने दूर रहते हैं और उनका सदा स्मरण करते हैं। गोस्वामीजी बोले – हाँ, श्रीराम अपने भाई का दिन-रात स्मरण करते हैं –

रामहि बन्धु सोच दिन राती।

कैसे? उन्होंने कहा – जैसे कछुवा समुद्र के रेत में अण्डा देकर उसे रेत से ही ढँक देता है और फिर पानी में चला जाता है, परन्तु उसका मन निरन्तर रेत में गड़े हुए अपने अण्डे पर ही लगा रहता है, वैसे ही। गोस्वामीजी भगवान से यही प्रार्थना करते हैं –

तँह-तँह जनि छिन छोह छाँड़ियो

कमठ अण्ड की नाई ।

गोस्वामीजी से किसी ने पूछा – "अच्छा, आप भरत को राम के प्रेम की सीमा कहते हैं, इसका क्या अर्थ है? भरत दूर क्यों रहते हैं?" तो गोस्वामीजी ने यही कहा – "राजधानी से सीमा तो सर्वदा ही दूर होती है । लेकिन राजा को जितनी सीमा की चिन्ता होती है? उतनी और किसी की नहीं होती । वह भरत तो प्रेम की सीमा है, राम तो निरन्तर उन्हीं की याद में डूबे रहते हैं, उन्हीं की चिन्ता करते रहते हैं ।"

आज यहाँ जो यह चौपाई चुनी गई है, वह धर्म के सन्दर्भ में है – यदि भरत जी का जन्म न हुआ होता, तो सभी धर्मों की धुरा को कौन धारण करता? धर्म का सच्चा रूप कहाँ से प्रगट होता? –

जौं न होत जग जनम भरत को ।
सकल धरम धुर धरनि धरत को ।। २/२३३/१

और अयोध्या-काण्ड के अन्तिम छन्द में तो गोस्वामीजी ने 'को' 'को' की झड़ी ही लगा दी । वे पूछते हैं – यदि श्रीराम और सीताजी के प्रेम से परिपूर्ण भरत का जन्म न हुआ होता, तो बड़े-बड़े मुनियों के लिए यम-नियम आदि जो व्रत दुर्लभ है, उन्हें कौन कर पाता? और फिर – यदि भरत न होते, तो संसार का दुख-दरिद्रता-दोष कौन मिटा पाता –

सिय राम प्रेम पियूष पूरन
होत जनमु न भरत को ।।
मुनि-मन-अगम जम-नियम सम-दम
बिसम ब्रत आचरत को ।।
दुख दाह दारिद दम्भ दूषण
सुजस मिस अपहरत को ।। २/३२६/छन्द

'को' की ऐसी झड़ी 'मानस' में कहीं नहीं मिलेगी । गोस्वामीजी पूछते हैं – भरत न होते तो धर्म का रहस्य सामने कैसे आता? भरत न होते तो प्रेम की पूर्णता कहाँ से आती? भरत न होते समाज के दोष का निराकरण कैसे होता? भरत न होते तो संसार में मुनियों के लिए इतना उच्च कोटि का जो व्रत है, उसे कौन दिखाता?

किसी ने गोस्वामीजी से कहा – "बस, भरत-भरत, भरत को छोड़कर और कोई नहीं है क्या? लगता है उन्होंने आपको कुछ दिया है ।" वे बोले – हाँ, दिया है । जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, इस युग में जिनके द्वारा मैं राम के सन्मुख जा सका, वे केवल भरत ही हैं –

कलिकाल तुलसी से सठन्हि
हठि राम सनमुख करत को ।। २/३२६/छन्द

जिनके लिए इतने 'को' लगे हों उस 'को' का रहस्य अब आगे भी आपके सामने रखने की चेष्टा की जायेगी ।

❖ (क्रमशः) ❖

आत्माराम की आत्मकथा (११)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य द्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

टिहरी के अनुभव

टिहरी – सूर्यदेव अस्ताचल की ओर जा रहे हैं। उनकी स्वर्णिम छटा की चंचल किरणें सुदूर बर्फ से आवृत्त पर्वत-शिखरों पर क्रीड़ा कर रही हैं। गौरी ! गौरी ! – ऋषियों की आराध्या गौरी ! – महादेव के हृदय में विराजनेवाली गौरी ! – यह क्या वे ही नहीं हैं?

मैंने भी धीरे-धीरे उतरना शुरू किया। संध्या होने के पूर्व वहाँ पहुँचना जरूरी था, क्योंकि एक तो नई जगह और दूसरे मैं एक अकिंचन अपरिचित संन्यासी ! रहने के लिये जगह भी तो ढूँढ़नी होगी !

गंगा के पानी में हाथ-मुँह धोकर नगर में प्रवेश किया। बड़े रास्ते के पास ही एक धर्मशाला थी। भीतर जाकर देखा – लोगों की भीड़ लगी थी, तिल धरने तक को जगह न थी। गुजराती, मराठी, दक्षिणी, बंगाली – सब निज-निज भोजन बनाने में व्यस्त थे। मेरे आने के पूर्व ही थोड़ी बारिश हो चुकी थी। रास्ते में छिटपुट वर्षा का भी सामना हुआ था।

नीचे के एक हाल में विभिन्न सम्प्रदायों के पन्द्रह-बीस साधु-संन्यासी अपने-अपने आसन पर बैठे थे। कुछ आसन खाली पड़े थे। शायद कुछ लोग कार्यवश बाहर गये थे, या कोई-कोई दाल-रोटी बनाने में लगे थे।

ब्रह्मचारी सदानन्द नाम के एक बंगाली साधु भी रोटियाँ बना रहे थे। पहले वे ऋषिकेश के स्वर्गाश्रम में रहते थे और मुझसे अल्प परिचित भी थे। मुझे देखते ही वे दौड़कर आये और अपने ही आसन के पास जगह कर दी। मेरा दुर्बल शरीर देखकर वे बार-बार कहने लगे – "लगता है आपको रास्ते में बड़ा कष्ट हुआ है, पैदल चलने का अभ्यास नहीं है न, इसलिए। आज मेरे साथ ही भिक्षा कीजिएगा।" वे पानी में नमक डालकर गरम करके ले आये और बोले – "पैरों को अच्छी तरह धो डालिए। इससे थकान भी कम होगी और रात को नींद भी अच्छी आयेगी।"

इतने में काले-काले बादलों के घिर आने से अँधेरा छा गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी। कुछ दिनों से सूर्यदेव भी वहाँ यदा-कदा ही नजर आते थे। केवल उसी दिन शाम को आकाश खूब साफ हुआ था। इसलिये तीर्थ-यात्रियों की टोली दो-तीन दिनों से कहीं बाहर नहीं निकल सकी और टिहरी में ही पड़ी हुई है। धर्मशाला में भी इतनी भीड़ होने का यही कारण है। खूब वर्षा हो रही है। अपने एकमात्र सम्बल-रूपी कम्बल को ओढ़े मैं नीचे के बरामदे में खड़ा था और देख रहा था कि भोजन बनाने में व्यस्त यात्रियों में कहीं कोई अपना परिचित भी तो नहीं है !

दुमंजले पर अहमदाबाद के कोई मिल-मालिक गुजराती सेठ दल-बल के साथ ठहरे हुए थे। उस वर्षा के दौरान ही उनके किसी आदमी ने सहसा मिट्टी के एक सिकोरे से पतला पाखाना नीचे फेंका। मेरे कम्बल पर भी उसके छींटे पड़े। एक वैष्णव साधु के वस्त्रों पर भी छींटे लगे और वहाँ से गुजर रही एक गुजराती महिला के कपड़े भी खराब हो गये। वह महिला तथा वे वैष्णव साधु खूब गाली-गलौज करने लगे और मैं बैठा-बैठा सोचने लगा कि अब क्या करूँ? इस ठण्डक में रात-भर क्या ओढूँगा, रात कैसे कटेगी? कम्बल को धोकर कहाँ सुखाऊँगा? उस वर्षा में ही सिर्फ कौपीन पहनकर स्नान करने और कम्बल धोने के लिये गंगा की ओर जाने लगा।

सदानन्द जी यह देखकर बड़े नाराज हुए और ऊपर जाकर खूब डाँट लगाई। धन के नशे में चूर सेठजी अपने नौकर की गलती मानना तो दूर, उल्टे – "गू फेंकने का आरोप बिल्कुल झूठा है" – कहकर सदानन्द जी का अपमान करने को उद्यत हुए। शोरगुल सुनकर कुछ साधु तथा पंजाबी गृहस्थ लोग वहाँ पहले ही आ पहुँचे थे। उनमें से एक को पता था कि सेठ के कुटुम्ब में किसी को दस्त की शिकायत है और डॉक्टर का इलाज भी चल रहा था। उन्होंने सबके सामने यह बात बताई और सेठ को माफी माँगने के लिए कहा। तभी नीचे गाली दे रहे वे वैष्णव साधु भी ऊपर आ गये और अपने कपड़े सेठ की नाक के पास रखकर बोले – "देख टट्टी है या नहीं? यह कपड़ा तू ही रख और कल यदि तूने मुझे एक नया कपड़ा मँगाकर नहीं दिया, तो तेरा सारा सेठपना निकाल दूँगा।" यह देखकर सब हो-हो करके हँसने लगे। और सेठ ने बाध्य होकर सबसे माफी माँगी और साधु के लिए तत्काल नया कपड़ा मँगवा दिया। मुझसे भी कइयों ने कहा – "जाइये, आप भी सेठ के ऊपर अपना कम्बल फेंककर एक नया कम्बल माँग लीजिये। न दे, तो चिमटे से मार-मारकर वसूल कीजिए।" धर्मशाले का पहाड़ी कर्मचारी

भी मुझे भड़काने लगा। मैं बोला – "उसने जान-बुझकर तो मुझ पर कुछ फेंका नहीं और फिर अपने दोष के लिए माफी भी माँग ली है, तो फिर यह सब क्यों?" इतना कहकर मैं गंगाजी में स्नान करके अपना कम्बल धो लाया। आकर देखा – सदानन्दजी ने मेरे लिए गुड़ की चाय बना रखी है। उसे पीकर बड़ी राहत मिली। आसन के पास ही आग तापने की भी व्यवस्था हुई थी, वहीं बैठकर मैं अपना कम्बल सुखाने लगा। फिर रात में भोजन करके सो गया।

सुबह स्नान आदि से निपटकर मन्दिर में दर्शन किया और घूम-फिरकर नगर का भी परिदर्शन किया। टिहरी बड़ा सुन्दर नगर है – वहाँ हाई-स्कूल है, अस्पताल है और सब प्रकार की संस्थाएँ हैं। बारह बजे उसी मन्दिर में प्रसाद मिला। फिर रहने को स्थान ढूँढने निकला, परन्तु निश्चिन्त होकर रहने लायक कोई एकान्त स्थान नहीं मिला। सभी जगह भीड़ थी। साधुओं के स्थान भी भरे हुए थे। अनेक लोगों ने कहा – "एक माह पूर्व आते, तो हो सकता है अपनी पसन्द का स्थान मिल जाता, परन्तु अब तो असम्भव है। आपको उत्तरकाशी जाना चाहिए। वहाँ स्थान मिल सकता है और फिर जगह भी सुन्दर और ठण्डी है।"

उत्तरकाशी के पथ पर

टिहरी में तीन दिन और चार रात निवास करने के बाद मैं उत्तरकाशी के पथ पर चल पड़ा। सोचा – शायद माँ की यही इच्छा है। दु:ख इसी बात का था कि जहाँ आने के लिए इतना कष्ट भोगा, वहाँ रह न सका। लेकिन जीवन स्वेच्छा के वश में नहीं, पराधीन है। ब्रह्मचारी सदानन्द दूसरे दिन ही – उत्तरकाशी होकर गंगोत्री जायेंगे – कहकर रवाना हो गये। मैं अकेला ही चल पड़ा। रास्ते में टिहरी से तीन या साढ़े तीन मील दूर एक बड़ा गाँव है। गाँव से थोड़ी दूर गंगा के किनारे एक कुटिया थी, उसे देखने गया। जाकर पता चला कि स्वामी रामतीर्थ उसी कुटिया में रहते थे और वहीं गंगा में उन्होंने देहत्याग किया था। स्थान बड़ा मनोरम था, परन्तु टिहरी स्टेट में किसी राजनीतिक घटना होने के कारण कुटिया की छत हटा ली गयी थी और किसी को भी वहाँ रहने की अनुमति नहीं दी जाती थी।

मैं निराश होकर उत्तरकाशी के पथ पर अग्रसर हुआ। मार्ग में साधु-वेशधारी दो अल्पवयस्क दक्षिण-भारतीयों के साथ भेंट हुई। एक थोड़ा लँगड़ा और दूसरा खूब मिलनसार था। उसने स्वयं ही मुझसे परिचय किया और मेरे साथ ही चलने लगा। दोनों की स्वामी विवेकानन्द पर बड़ी भक्ति थी। उसने स्वामीजी पर रचित एक तमिल गाना सुनाया। सुर काफी मधुर था। करीब बारह बजे हम एक गाँव में पहुँचकर वहाँ शिव-मन्दिर में ठहरे। यात्री बहुत थे। सभी उत्तरकाशी, गंगोत्री या यमुनोत्री जा रहे थे। गाँव में भिक्षा करने गया। सबने आटा दिया, क्योंकि पहाड़ी लोग सबेरे ही भोजन कर लेते हैं और फिर शाम को काम से लौटकर रोटी बनाते हैं। आटा काफी मिला था। और कोई चारा न देख वही ले आया। देखा – दोनों दक्षिणी तब भी सोच-विचार कर रहे थे। उनके पास काली-कमलीवालों का टिकट[१] नहीं था, अत: वहाँ की चट्टी के कर्मचारी ने उन्हें कुछ दिया नहीं था।

मैंने उन्हें आटा देकर कहा – "इतना सोचने की क्या जरुरत? रोटी बनाओ, नमक के साथ रोटी खा लेंगे। वे बड़े खुश हुए और तत्काल रोटी बनाने बैठ गये। उनके पास एक तवा और एक छोटी-सी डेगची थी। उनमें से एक जाकर यात्रियों से थोड़ा-सा दाल-मसाला और घी माँग लाया। खाते -खाते करीब शाम हो गई। रात को हम तीनों उसी मन्दिर के सामने खुले मैदान में सो गये।

दूसरे दिन प्राय: दो बजे एक चट्टी में पहुँचे। पास में कोई गाँव नहीं था, चिन्ता हुई, सोचा – भाग्य में आज उपवास ही लिखा है। एक झरने के किनारे जाकर लेट गया, पर जब वे दोनों मुझे खाने को बुलाने आये, तब पता चला कि सुबह का काफी आटा बच गया था, उसी से रोटी बनाई है। आज केवल नमक-रोटी और एक-एक मिर्च ही मिली। उस चट्टी[२] से दो रास्ते गये हैं, एक यमुनोत्री और दूसरा उत्तरकाशी को। पता चला कि यमुनोत्री के मार्ग पर वहाँ से पाँच-छ: मील दूर एक सुन्दर-सा गाँव है, जहाँ एक उत्तम योगी रहते हैं और वहाँ से उत्तरकाशी जाया जा सकता है। मन में वहाँ जाने की प्रबल इच्छा हुई। मद्रासी भाइयों ने पहले से ही वहाँ से सीधे उत्तरकाशी जाने का निश्चय कर लिया था और मैं भला क्यों उन्हें अपने साथ आने को कहता, क्योंकि वहाँ आने का उनका और मेरा उद्देश्य भिन्न-भिन्न था।

ग्राम में पहुँचकर ज्ञात हुआ कि योगिराज गंगोत्री चले गये हैं और कुछ दिन वहीं रहेंगे। निराश होकर सोच रहा था – कहाँ जाऊँ यमुनोत्री या उत्तरकाशी। एक पहाड़ी से पूछने पर उसने बताया – "गाँव के रास्ते यमुनोत्री पास ही है और सड़क बहुत घूमकर गई है। यमुनोत्री से उत्तरकाशी के लिए भी एक पगडण्डी जाती है। वहाँ से दूरी केवल पाँच-छह मील या और भी कम है।" निश्चय किया कि यमुनोत्री देखने के बाद उत्तरकाशी जाकर रहूँगा। वह रात उस गाँव में ही बिताई। गाँव अच्छा था और लोग आदर-सत्कार भी करते

१. ऋषिकेश में बाबा काली-कमलीवाले के क्षेत्र के मैनेजर कुछ रुपये लेकर कुछ टिकट देते हैं, जिसके द्वारा उत्तराखण्ड के तीर्थ-मार्ग पर जहाँ-जहाँ उस संस्था की चट्टी या धर्मशाला है, वहाँ एक बार खाने के उपयुक्त आटा-दाल-घी आदि मिल जाता है। यह सदाव्रत अधिकांशत: मारवाड़ी व्यापारियो की ओर से चलता रहता है।

२. नाम (शायद धरासू चट्टी होगी) भूल चुका हूँ, क्योंकि अनावश्यक समझकर कभी पूछा नहीं।

हैं। सबने बुला-बुलाकर माधुकरी भी दी, पर माँ ने जो ठीक किया है वही तो होगा, इसलिए इच्छा होते हुए भी वह पूर्ण नहीं हुआ। सोचा था यदि उत्तरकाशी में रहने की सुविधा न हुई, तो इसी गाँव में आकर रहूँगा।

दूसरे दिन सुबह जंगल के रास्ते यमुनोत्री की तरफ रवाना हुआ। रास्ता भूल जाने के कारण बहुत घूमना पड़ा और परेशानी भी हुई, पर गाँव का पता कहीं नहीं लगा। दोपहर के तीन बजे सड़क पर आकर पहुँचा। सड़क से कोई एक मील की ऊँचाई पर एक गाँव दिखाई पड़ा और चढ़कर वहाँ जा पहुँचा। देखा – सभी घर बन्द पड़े हैं और किसी प्राणी का नामो-निशान तक नहीं है। सोचा – सब खेतों में काम करने गये होंगे। गाँव में घूमते समय देखा – एक वृद्धा चुपचाप अपने घर के सामने बैठी है। मुझे देखते ही मेरा स्वागत करके बैठने को आसन दिया। मैंने पूछा – "गाँव इतना खाली-खाली क्यों है? सब खेतों में गये हैं क्या?" वृद्धा ने लम्बी साँस लेकर कहा – "बाबाजी, पुरुषों में से कोई गाँव में नहीं हैं, केवल दो-तीन वृद्ध और हम स्त्रियाँ ही हैं। तीन साल से यहाँ फसल नहीं हुई, घर में खाने को कुछ नहीं है, इसलिए आदमी सब नीचे (मैदानी अंचल में) मजदूरी करने गये हैं, बाद में लौटकर अनाज खरीदेंगे। और महिलाएँ यहाँ से पाँच मील दूर जंगल में घास लाने गयी हैं। शाम तक सब लौट आएँगी और तब घास के बीज कूटकर रोटियाँ बनायेंगी। तुम बैठो, आराम करो। बहू के लौटने पर रोटियाँ बनने में देर नहीं लगेगी। तुम भिक्षा करके कल सुबह जाना। क्या करूँ, घर में एक भी रोटी नहीं है, वरना तुम्हें जरूर देती। भगवान न जाने कब हमारे ये दुख दूर करेंगे।"

मैं उनके दुखों की बात सुनकर अपने आँसू न रोक सका – "हे भगवान! इन पवित्र करुण-हृदय पहाड़ियों को इतना कष्ट क्यों है! तुमने इन्हें मनुष्य जन्म दिया है, तो इनका पालन करने में इतनी कातरता क्यों दिखा रहे हो? यह बात सभी कहते हैं कि 'जिन्होंने मुख दिया है, वे ही खाने को भी देंगे' – तुम खाने को तो अवश्य देते हो, लेकिन साथ-ही-साथ इतने दुःख भी देते हो। यह सृष्टि क्यों है? इन दुःखों की क्यों रचना की है? इसके द्वारा तुम्हारा क्या उद्देश्य पूरा हो रहा है? तुमको आनन्दमय कहते हैं, परन्तु तुम्हारी सृष्टि इतनी दुखमय क्यों है? सत्यद्रष्टा ऋषियों ने लिखा है – इसकी आनन्द में उत्पत्ति, आनन्द में ही स्थिति और अन्ततः आनन्द में ही लय होता है।' लेकिन प्रत्यक्ष जो देख रहा हूँ, उसमें तो यह सत्य कहीं नहीं दिखता। यदि कहीं एक आना आनन्द है, तो साथ में पन्द्रह आने दुःख है। यह सत्य है या वह? यह दुःख क्यों? यह सृष्टि क्यों?"

ये सारी बातें हृदय में उठकर एक विराट् झंझा की सृष्टि करने लगीं। उनके दुःख देखकर पीड़ा हुई और इतने दुःखों के बीच भी उनकी अतिथि-परायणता और ईश्वर पर अटल विश्वास देखकर मन और भी विचलित हुआ। मैं निरुपाय हूँ, प्रभु ने मुझे ऐसी क्षमता नहीं दी, जिससे उनके दुःख दूर कर सकूँ। सहायता तो दूर की बात, उल्टे मैं ही उनके पास अन्नप्रार्थी होकर आया हूँ। हाय रे! भाग्य-विधाता तुम्हारा परिहास बड़ा कठोर है। अहा! कितना उदार प्राण है इनका – घर में अन्न नहीं है, घास के बीज की रोटी बनाकर खाते हैं, तो भी मुझसे ठहरने का आग्रह कर रहे हैं। यदि मेरे अपने अंचल के लोग होते तो अवश्य ही मुझे देखकर गालियाँ देते। उनकी दृष्टि में वे लोग ही भद्र हैं, सभ्य हैं और यहाँ के सभी लोग असभ्य हैं, जंगली हैं। समझ में नहीं आता कि सभ्यता किसको कहूँ! ... देवता, ये लोग देवता हैं – सचमुच ही देवता हैं – इसलिये साधु लोग उत्तराखण्ड-उत्तराखण्ड कहते रहते हैं। हे माँ गौरी की सन्तानों, धन्य हो तुम लोग, तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

कुछ ही क्षणों में ये सारे भाव मन के भीतर से होकर गुजर गये। नेत्रों के जल से सीना भीग गया। वृद्धा भी यह देखकर रो पड़ी। शायद उसने सोचा कि मैं भूख की पीड़ा से रो रहा हूँ। वह बार-बार कहने लगी – "बाबाजी, बहू आते ही रोटियाँ बनाकर देगी, तुम रोओ मत! तुम यहीं विश्राम करो। आदि आदि।" उसी समय गाँव के वयस्क मुखिया वहाँ आ पहुँचे। उनका मकान वहाँ से थोड़ी ऊँचाई पर स्थित था। मकान के बरामदे से उन्होंने मुझे देख लिया था। वे आते ही बोले – "महाराज, मेरे घर खाने चलिए, भोजन तैयार है।" वृद्धा ने विशेष अवस्था देखकर अनिच्छा के बावजूद मुझे छोड़ने को राजी हुई। वृद्ध प्रधान ने मुझे ले जाकर हरे रंग की मोटी-मोटी तीन रोटियाँ और साथ में एक हरी मिर्च दी। खूब श्रद्धापूर्वक बड़े प्रेम से कहा – "महाराज;

विश्व का प्रयोजन

निराशावाद और आशावाद - दोनों ही गलत हैं। दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। ... यह संसार न तो अच्छा है, न बुरा। यह प्रभु का संसार है। अच्छाई और बुराई से परे यह अपने आपमें पूर्ण है। एक परमात्मा की इच्छा अनादि काल से विभिन्न रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त कर रही है और अनन्त काल तक यह वैसा करती चली जाएगी। यह विश्व मानो एक विशाल अखाड़ा है, जिसमें हम और आप जैसे अनेक प्राणी आकर मानो व्यायाम करते हैं और अन्ततःशक्तिशाली एवं पूर्ण होकर बाहर निकलते हैं।शायद इस विश्व का प्रयोजन ही यही है। **– स्वामी विवेकानन्द**

और रोटियाँ नहीं है, आशा है कि इनसे कुछ मात्रा में आपकी भूख का निवारण हो सकेगा। बाद में संध्या के समय घर के लोग (पत्नी) लौट आने पर फिर भिक्षा मिल सकेगी।''

मैं बोला – ''बस, जो दिया है, उसी से मेरा पेट भर जायेगा और रात में मैं भोजन नहीं करता, अत: मुझे उसकी चिन्ता नहीं है।'' वृद्ध – ''ये शाक की रोटियाँ हैं, यह शाक झरने के किनारे होता है, थोड़ा कड़वा होता है, न जाने आपको कैसा लगेगा, परन्तु वह शाक और घास के बीज (जिसे इकट्ठा करने सभी महिलाएँ गयी हुई हैं) की रोटियाँ खाकर ही हम लोग करीब डेढ़ साल से जीवित हैं। क्योंकि प्राय: तीन वर्षों से इधर अकाल पड़ा हुआ है। फसल आदि कुछ हुआ नहीं। आलू होता था, वह भी नहीं हुआ। असमय अधिक वर्षा तथा बरफ पड़ने से सब नष्ट हो गया।''

मैं बोला – ''जब तुम लोग ये ही रोटियाँ खाकर जीवित हो और मैं तुम लोगों के द्वार पर भिक्षा के लिए आया हूँ, और जो कुछ तुमने दिया है, लगता है कि मुझे इसी से तृप्ति हो जायेगी। भगवान तुम लोगों के दु:ख दूर करें – यही मेरी हार्दिक प्रार्थना है।''

रोटियाँ लेकर मैं गाँव के बाहर एक स्वच्छ झरने के किनारे खाने गया। एक टुकड़ा मुँह में डालते ही पता चला कि वह बिल्कुल कुनैन के समान कड़वा है और उल्टी की प्रवृत्ति होने लगी। तो भी पेट में तो चूहे कूद रहे थे। ''बिना खाये भी तो काम नहीं चलेगा। न जाने अन्न दुबारा फिर कब मिले, अत: इसी को खा लेना उचित है, क्योंकि यही खाकर तो ये लोग जीवित हैं। मैं संन्यासी हूँ, सब छोड़कर आया हूँ, जो भी खाने को मिल गया है, उसी को प्रेम के साथ खाना ही मेरे लिए उचित है। अनायास प्राप्त अन्न ही तो मेरा भोजन है। इनके पास जो है, वही तो मुझे दिया है, गृहस्थ के पास जो होगा, उसी में से तो वह संन्यासी को देगा, उसी में मुझे सन्तुष्ट रहना उचित है। अहा, ये लोग कितने कष्ट में हैं! इस कष्ट की रोटी को फेंका नहीं जा सकता, मुझे खाना ही होगा। ये तीन रोटियाँ रहने से उन लोगों को कितनी सुविधा होती! और महा दु:ख तथा अभाव के बावजूद इसे मेरे हाथ में दिया है। नहीं, मुझे इसे खाना ही होगा।''

ऐसा सोचकर मन के जोर से थोड़ा-थोड़ा खाने लगा। रोटी और उसके साथ खूब पानी। नहीं तो वह कड़वी रोटी गले से नीचे ही नहीं उतर रही थी। परन्तु ऐसा करने पर भी प्रतिक्षण उल्टी होने की सम्भावना दीख रही थी। करीब एक रोटी समाप्त हो गयी। तभी मैंने देखा कि झरने के किनारे ही थोड़ी दूरी पर बैठा एक अस्थि-पिंजर-मात्र पहाड़ी बालक भूखे बाघ की तरह रोटी की ओर देख रहा है। वह गाँव का चरवाहा था, वहीं गायें चरा रहा था। अहा, वह क्या दृष्टि थी! मैं और नहीं खा सका। ''इन रोटियों की मुझसे भी अधिक उसे जरूरत है। मैं संन्यासी हूँ, अन्न के अभाव में यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय, तो उससे दुनिया की कोई हानि नहीं होगी। बल्कि समाज का थोड़ा बोझ ही कम होगा।'' – तड़ित् वेग से यही विचार मन से होकर गुजर गया।

उसे संकेत से पास बुलाया। बुलाते ही वह प्राय: दौड़ते हुए ही मेरे पास चला आया। उसकी निगाह लगातार रोटियों पर ही लगी थीं। रोटियाँ उसके हाथों में दे दीं। उसने बिना कुछ कहे या मुझसे कुछ सुनने की अपेक्षा किये, क्षण भर में उन्हें खा डाला। उसे थोड़े-से जल की भी आवश्यकता नहीं हुई। इसके बाद वह कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखकर एक छोटा-सा नमस्कार करके पहले जहाँ बैठा था, वहीं वापस चला गया। – ''अहा, जिस रोटी को मैं कैसे भी नहीं खा पा रहा था, वह उसे अमृत के समान खा गया। यह देख मैं चकित रह गया। 'पेट दियो, सो पाप दियो है' – कवि ब्रह्मानन्द की यह उक्ति बारम्बार मन में उदित होने लगी। यह सृष्टि क्यों रची गयी है? इसका अन्त कहाँ है? इन दुखों का अन्त कहाँ है? सोचते-सोचते सृष्टिकर्ता के प्रति अभिमान से हृदय परिपूर्ण हो उठा। दुख-दग्ध चित्त पीड़ा से छटपटाने लगा। आँसू बहने लगे। परन्तु दुख का अन्त तो हुआ नहीं।

उस गाँव से लगभग नौ-दस मील उत्तर की ओर यमुनोत्री के पण्डों का ग्राम है। वहाँ से सबको यमुनोत्री जाना होता है। जब मैं वहाँ पहुँचा तो रात को प्राय: साढ़े आठ-नौ बज रहे थे। पहुँचते ही एक मन्दिर में एक परिचित साधु के साथ भेंट हुई। वे आग ताप रहे थे। देखते ही उन्होंने मेरा सानन्द स्वागत किया और अपने पास ही मेरे लिए भी आसन की व्यवस्था कर दी। बड़ी रात तक वे अपनी यात्रा-विषयक कितनी ही बातें बताते रहे। मैं चुपचाप सुन रहा था, पर उस गाँव के लोगों के दु:ख याद कर-करके मेरा मन रो रहा था। बातचीत की बिल्कुल भी इच्छा नहीं हो रही थी।

उसी दिन वहाँ बम्बई के कोई सेठ साधु-ब्राह्मणों को भोजन करा रहे थे – पूरी, तरकारी, हलुवा, आदि आदि। मुझे देखकर एक ब्राह्मण ने आग्रह किया कि मैं भी वहाँ भोजन करने चलूँ। सेठजी भी वहाँ उपस्थित थे। मैंने उनसे कहा – ''आज मैं यह अन्न मुँह में न दे सकूँगा, क्योकि मेरा मन दु:ख से परिपूर्ण है।'' और सेठजी से बोला – ''आप इतना दान कर रहे हैं, क्या आपको मालूम है कि पास ही गाँव में लोगों को भूख के मारे कितना कष्ट हो रहा है? आप इसमें से कुछ अन्न उनके लिए क्यों नहीं भेज देते?'' और सेठजी ने दूसरे दिन उस गाँव में अन्न भेज दिया था।

❖ (क्रमश:) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (८)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

अध्याय १०

ज्ञानयोग

गोताखोर समुद्र-तल में जाकर मोतियाँ एकत्र करते हैं। हमारे हिन्दू ऋषिगण भी श्रेष्ठ गोताखोर थे। उन्होंने समुद्र की जगह अपने अन्तस्तल में डुबकियाँ लगाकर विश्व के सारे ऐश्वर्यों से कहीं अधिक कीमती महारत्न निकाले। ऐसे ही एक सफल गोताखोर ऋषि ने चित्-सागर से बाहर आकर उच्च कण्ठ से घोषित किया, "हे तीनों लोकों के अमृतपुत्रो ! सुनो, मैंने उन महापुरुष को जान लिया है, जिसे जान लेने से अज्ञान-रूपी मृत्यु से हाथों से छुटकारा मिल जाता है।"[१] इन ऋषि ने अपने चित्त में डुबकी लगाकर विश्व के मूलाधार तक पहुँचकर एक मृत्युंजयी महारत्न की खोज की।

अपना सच्चा स्वरूप जान लेना ही ऋषियों का उद्देश्य था; अत: उन्होंने अपना मन वैषयिक जगत् से उठाकर उसे निष्ठापूर्वक आत्मा की खोज में लगा दिया था। इसके फल-स्वरूप वे एक ऐसी अवस्था में पहुँचे, जहाँ मन बिल्कुल शान्त हो जाता है और आत्मा अपनी पूर्ण महिमा में प्रकट हो जाती है। उसी अवस्था में ऋषि को अपने सच्चे स्वरूप का बोध हुआ। उन्होंने जाना कि सम्पूर्ण विश्व की अन्तरात्मा – ब्रह्म ही उनकी अपनी आत्मा या सच्चा स्वरूप है। ईश्वर से एकात्मता की इस अनुभूति से उनको नि:श्रेयस् (मुक्ति) की प्राप्ति हुई और आनन्दातिरेक में वे कह उठे – 'यूरेका'[२]।

कितने आश्चर्य की बात है ! व्यक्ति स्वयं को जानने से ही ईश्वरवत् हो जाता है। वस्तुत: मनुष्य ईश्वर को छोड़ और कुछ है ही नहीं। मूलत: वह ईश्वर ही है। उसे इस सत्य का अनुभव मात्र ही कर लेना है और केवल मुक्ति के लिए ही उसे इस अनुभूति की आवश्यकता है।

जिस साधना के द्वारा मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से इस सत्य की अनुभूति करता है, उसे ज्ञानयोग कहते हैं। ज्ञानयोग का अर्थ है – मन को आत्मबोध के लिए एकाग्र करना। इस एकाग्रता के फलस्वरूप साधक अपनी अविद्या की गाँठ को काटकर निज तथा परब्रह्म की अभिन्नता का बोध करता है।

वेदों का ज्ञान-काण्ड ही इस योग का आधार है। 'आत्मा और ब्रह्म की एकता' ही उपनिषदों का मुख्य विषय-वस्तु है। श्रुति कहती है – "स्वयं को जानो।"[३] – "क्यों जानो?" क्योंकि श्रुति कहती है – "जीवात्मा और परमात्मा वस्तुत: एक है।"[४] अत: स्वयं को जानने से ही साधक परम पुरुष को जान सकता है और उसके साथ एकात्मता की अनुभूति कर सकता है।[५] तभी वह जीवन्मुक्त महापुरुष हो जाता है।

यह कोई कोरी बात या सिद्धान्त नही है। यह उपनिषदों के ऋषियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्य है। वैदिक युग से लेकर आज तक इस पुण्यभूमि के असंख्य सिद्ध-पुरुषों ने इसकी सच्चाई को भलीभाँति जाँचा-परखा है।

ऐसे अनेक परीक्षित आध्यात्मिक तथ्यों पर आधारित यह ज्ञानयोग आत्मज्ञान के द्वारा सीधे मुक्त होने का मार्ग है।

ज्ञानयोग में किसी प्रकार के अनुष्ठान का निर्देश नहीं है। इसमें राजयोग की तरह शारीरिक या मानसिक व्यायाम की भी जरूरत नहीं। शास्त्रों में निर्दिष्ट आत्म-स्वरूप का चिन्तन और उसी पर एकाग्र-ध्यान करने के अतिरिक्त ज्ञानयोग में और कुछ खास नहीं करना है। इसीलिए विचारशील स्वभाव के लोग ज्ञानयोग को खूब पसन्द करते हैं।

ज्ञानयोगी को ज्यादा भटकना नहीं पड़ता। वह विवेक-रूपी तलवार से अविद्या-रूपी बाधाओं को काटता हुआ सर्वाधिक संक्षिप्त मार्ग से चरम लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

पर इस संक्षिप्त मार्ग पर चलना कोई सहज बात नहीं है। ज्ञानयोग की यह साधना आरम्भ करने के पूर्व मन को काफी तैयार कर लेना पड़ता है। खूब पवित्र तथा सुदृढ़ मनवाले को ही इस साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। अत्यन्त सूक्ष्म तथा एकाग्र बुद्धि के द्वारा ही[६] जीव व ब्रह्म की एकता का बोध किया जा सकता है, परन्तु चित्त के विशेष रूप से निर्मल होने पर ही बुद्धि में ऐसे गुण आ पाते हैं।

इसीलिए साधन-चतुष्टय से भलीभाँति सम्पन्न लोग ही ज्ञानयोग की साधना के अधिकारी हो सकते हैं।[७]

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद्, २/५, ३/८
२. ग्रीक शब्द 'यूरेका' का अर्थ – 'मिल गया'।
३. 'आत्मानं विद्धि' – मुण्डक उपनिषद्, २/२/५
४. बृहदारण्यक उपनिषद्, २/५/१९
५. मुण्डक उपनिषद्, ३/२/९
६. कठ उपनिषद्, १/३/१२
७. साधन चतुष्टय के अन्तर्गत आते हैं – (१) शमादि षट्-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा एवं समाधान), (२) नित्य-अनित्य विवेक, (३) इह-अमुत्र-फलभोग-विराग और (४) मुमुक्षुत्व।

ज्ञानमार्ग के साधक को सदा नित्य तथा अनित्य वस्तुओं के भेद का बोध होना चाहिए। उसे इस लोक तथा परलोक के सभी प्रकार के भोगों की आकांक्षा को त्यागकर और मन तथा इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखकर, सभी अवस्थाओं में सन्तुष्ट तथा प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। मार्ग में चाहे जितने ही दु:ख क्यों न आवें, उसे अविचलित भाव से उन सबको सहन करना होगा। फिर, उसे स्वयं पर तथा शास्त्रों पर अगाध श्रद्धा और सर्वदा मन की अटल एकाग्रता बनाये रखनी होगी। और सर्वोपरि, उसमें मोक्ष की प्राप्ति के लिए आकुल आग्रह एवं उसके लिए साधना में निष्ठा भी होनी चाहिए।

मन की ऐसी तैयारी हुए बिना आत्म-चिन्तन में निमग्न होना असम्भव है। अशुद्ध मन के साथ आत्मा के स्वरूप पर विचार करने से, बहुत हुआ तो उस विषय में कुछ अस्पष्ट धारणा मात्र बन सकती है, परन्तु उससे अधिक कुछ होने का मार्ग बिल्कुल ही रुद्ध है। यह अस्पष्ट धारणा आत्मानुभूति की तुलना में अति नगण्य है। इसके बल पर व्यक्ति केवल अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन कर सकता है। मलिन मन की पहुँच बस यहीं तक है। आत्मज्ञान उसके लिए बहुत दूर की बात है। इसका आलोक तो केवल पवित्र हृदय में ही उदित होना सम्भव है।

ज्ञानयोग के उचित अधिकारी के लिए साधना के केवल तीन अंग बताये गये हैं – श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

सर्वप्रथम आत्म-तत्त्व को सुनना पड़ता है और वह भी सिद्ध गुरु से ही सुनना चाहिए। मुक्त महापुरुष की फलप्रसू वाणी[८] सच्चे अधिकारी-शिष्य के संशयों को दूर कर देती है। जिज्ञासु साधक 'प्रणिपात' तथा 'सेवा' के द्वारा[९] ऐसे महापुरुष की कृपा प्राप्त करके 'परिप्रश्न' की सहायता से उनसे आत्म-तत्त्व का गूढ़ रहस्य समझ ले। ऐसे महापुरुष न मिलें, तो किसी उन्नत साधक का शिष्यत्व प्राप्त करके उनके निर्देशानुसार आत्मज्ञान में उपयोगी शास्त्रों का अध्ययन आदि करे।

ज्ञानयोग का दूसरा अंग है – मनन। साधक गुरु तथा शास्त्रों से आत्म-तत्त्व जानकर विचार के द्वारा उस विषय में नि:संशय धारणा करने की चेष्टा करेगा। इस अति सूक्ष्म तथा अमूर्त अध्यात्म विषय की धारणा करने के लिए दीर्घ काल तक अनन्य भाव से तीव्र चिन्तन चलाना होगा। संक्षेप में कहें, तो इसी चेष्टा को मनन कहते हैं।

साधारणत: हमारे अधिकांश विचार असम्बद्ध हुआ करते हैं। मनन के द्वारा यथासम्भव उनका शोधन करना होगा। निरीक्षण तथा अध्ययन के द्वारा हम इस जगत् की बहुत-सी चीजों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वयं के बारे में हमारा ज्ञान अत्यल्प ही है।

हम प्राय: ही 'मैं'-'मुझे'-'मेरा' आदि शब्दों का उपयोग करते रहते हैं। सारा विश्व मानो दो भागों में विभाजित है – सभी अनुभूतियों का कर्ता 'मैं' और अनुभूतियों का विषय बाकी सारा 'जगत्'। इन दोनों में नि:सन्देह कर्ता 'मैं' ही प्रधान है। वस्तुत: 'मैं' ही व्यक्ति द्वारा दृष्ट ब्रह्माण्ड का केन्द्र है।

हर दृष्टि से मनुष्य का अपना स्थान इतना गौरवपूर्ण और असाधारण होते हुए भी स्वयं के बारे में उसका ज्ञान बड़ा ही धुँधला है। इसका प्रमाण हमारी अपनी बातचीत में ही मिल जाता है। इससे बढ़कर आश्चर्य की बात भला और क्या हो सकती है कि हमें प्राय: ही बोध नहीं रहता कि 'मैं' शब्द का उपयोग करते समय हमारा तात्पर्य अपनी सत्ता के किस अंश से है? तथापि 'मैं' शब्द द्वारा लक्षित तत्त्व (आत्मा) के साथ हमारा निकटतम सम्बन्ध है और इसी के माध्यम से हमारा विश्व की सभी वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है।

"यह एक घोड़ा है" – कहते समय हमें पूरा बोध रहता है कि घोड़ा हमारे बोध का विषय हुआ हमसे पूर्णत: पृथक् एक वस्तु है। जब हम कहते हैं – "यह मेरा घोड़ा है" – तब भी यही समझते हैं कि हम घोड़े के मालिक हैं और घोड़ा मेरी अनुभूति का विषय हुआ मुझसे पूर्णत: पृथक् एक वस्तु है। हम कभी भूलकर भी नहीं कहते कि 'मैं' घोड़ा हूँ'। घोड़ा जब लात मारता है, तब भी हम नहीं कहते कि 'मैं लात मार रहा हूँ'। यहाँ तक तो हमारी धारणा खूब युक्तिसंगत है। इसी प्रकार अपनी अनुभूति के विषय हुए सभी चीजों के बारे में हमारे चिन्तन में असंगति का दोष नहीं रहता।

परन्तु जब हम – "मेरा शरीर" – कहते हैं, तब हमारी धारणा में कुछ भ्रम बना रहता है। "मेरा शरीर" – कहने से यह स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि मैं शरीर का मालिक हूँ, अत: यह मेरे अधीन एक पृथक् वस्तु है और अन्य वस्तुओं के समान ही यह भी हमारे बोध का एक विषय है। पर देह के विषय में ऐसी धारणा हमेशा नहीं रहती। क्योंकि जब मैं कहता हूँ कि 'मैं घायल हूँ' – तभी हमारी धारणा की असंगति पकड़ में आ जाती है। चोट शरीर को लगी है और शरीर मैं निश्चित रूप से नहीं हूँ। परन्तु यह बात हमसे विस्मृत हो जाती है। और जब मैं कहता हूँ कि 'मैं घायल हूँ' – तब हमें लगता है कि मैं ही शरीर हूँ या फिर वह मेरा एक अविच्छेद्य अंश है। इसी प्रकार जब हमारा शरीर दुर्बल, रुग्ण या वृद्ध हो जाता है, तब हम कहते हैं – "मैं दुर्बल, रोगी या वृद्ध हूँ।" यहाँ तक कि 'मैं पुरुष या स्त्री हूँ' – यह विचार भी इसी तरह के असम्बद्ध विचार से उत्पन्न होता है।

मन के बारे में भी यही बात है। हम कहते हैं – "मेरा मन।" इससे यह निश्चित रूप से समझ में आता है कि मन 'मैं' से भिन्न वस्तु है। बाहर की घटनाओं के समान ही मन की वृत्तियाँ भी हमारे अनुभूति का विषय हैं। वस्तुत: अन्य वस्तुओं के समान ही मन भी हमारे बोध का एक विषय है। पर इसके

८. मुण्डक उपनिषद्, १/२/१२ ९. गीता, ४/३८

बारे में हमारी कोई स्पष्ट धारणा नहीं है, नहीं तो फिर हम भला ऐसा क्यों कहते – "मैं सोचता हूँ, मैं चाहता हूँ या मेरी इच्छा है कि ... !" जबकि वस्तुत: ये विचार मन की वृत्तियाँ मात्र हैं। "मेरा मन बड़ा परेशान है' या "मैं बड़ा परेशान हूँ" – इन दो विभिन्न वाक्यों का प्रयोग हम एक ही अर्थ में किया करते हैं। इससे यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि मन के साथ अपने सम्बन्ध के विषय में हमारी धारणा अत्यन्त अस्पष्ट है।

शरीर तथा मन – दोनों ही हमारी अनुभूति के विषयभूत हमसे पृथक् वस्तुएँ हैं। तथापि हम इन्हें अपनी सत्ता का ही अंश मानते हैं। परन्तु 'मेरा शरीर', 'मेरा मन' आदि उक्तियों के माध्यम से वास्तविक तत्त्व का आभास निकल पड़ता है। इसी प्रकार देखने में आता है कि किसी कारणवश हमारे विचारों में परस्पर-विरोधी – सत्य और मिथ्या का एक असंगत मिश्रण रहा करता है।[१०] हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार अविद्या ही इसका कारण है। अविद्या के प्रभाव से हमारे वास्तविक स्वरूप के बारे में बोध ढँका रहता है और जो हम किसी भी काल में नहीं थे, वही मानो हमारा स्वरूप है – ऐसी एक भ्रान्त धारणा हम पर अधिकार जमा लेती है। सूक्ष्मतम जीवाणु से लेकर जीवन्मुक्त महापुरुष तक सभी जीवों में एक ही आत्मा विराज रही है, उनमें आपसी भेद केवल अभिव्यक्ति के तारतम्य का है। अविद्या का प्रभाव ज्यों-ज्यों दूर होता जाता है, त्यों-त्यों हमारी आत्मा का स्वरूप स्पष्ट होता जाता है।

जब हम स्वयं को देह के सिवा और कुछ नहीं समझते, तब मानव-स्तर पर निज स्वरूप-विषयक हमारा अज्ञान चरम सीमा पर होता है। अपने बारे में यही हमारी सर्वाधिक स्थूल धारणा है। विचार-पथ पर कुछ आगे बढ़ने पर ज्ञात हो जाता है कि हम देह, इन्द्रियों तथा मन के एक सम्मिश्रण हैं। थोड़ा और अग्रसर होने पर धारणा होती है कि स्थूल देह एक आवरण मात्र है, जिसके भीतर हम सूक्ष्म रूप से इन्द्रियों, मन, बुद्धि तथा प्राण के समष्टि के रूप में निवास करते हैं। और भी आगे बढ़ने पर इन्द्रियाँ आदि भी हमारे बोध का विषय प्रतीत होने लगती हैं। तब हम मानो साक्षी के रूप में इनके क्रिया-कलापों को देखते हैं। इस अवस्था में लगता है कि हमारी सत्ता केवल बुद्धि में ही है। वस्तुत: सभी अविद्या-ग्रस्त जीवों की स्थिति बुद्धि में है, यद्यपि वे इस विषय में सचेत नहीं हैं।

बुद्धि के सहारे जीव अनुभव करता है कि वह सभी कर्मों का कर्ता तथा सभी विषयों का भोक्ता है। एक उपनिषद् में यही बात एक सुन्दर रूपक के द्वारा समझाई गई है – "देह को रथ, बुद्धि को सारथी, आत्मा को रथी, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़े और भोग्य विषयों को घोड़ों के चलने का मार्ग जानो।[११]

बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा प्राणशक्ति के योग से हमारा सूक्ष्म शरीर बना है। बुद्धि उसका एक अंश मात्र है और वही जीव उसका आधार भी है। स्थूल शरीर के माध्यम से जीव का बाह्य स्थूल जगत् के साथ सम्पर्क होता है। फिर स्वप्न के समय हम स्थूल शरीर से हटकर स्वप्न-राज्य के कर्ता तथा भोक्ता बन जाते हैं। मृत्यु के समय हम पूरा सूक्ष्म शरीर लेकर स्थूल-शरीर से बाहर निकल जाते हैं और जन्म लेते समय नये शरीर में प्रवेश करते हैं। इसी प्रकार जीव-रूप में हम असंख्य जन्म-मृत्युओं से होकर चलते रहते हैं।

प्रतिदिन जब हम प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तब एक अति अद्भुत अवस्था प्रकट होती है.। सुषुप्ति के दौरान हममें से जीवन के सारे चिह्न लुप्त हो जाते हैं और विश्व-रंगमंच से मानो हम पूर्णत: हट जाते हैं। इस अवस्था में हमारे लिए कुछ अनुभव या कोई कार्य करना असम्भव हो जाता है। हमारे कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का लोप हो जाता है। उस समय मानो हम जीव ही नहीं रह जाते। इसे कारण-अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में हमारा अस्तित्व तो नहीं मिटता, परन्तु हमारे सारे विचार तथा संस्कार बीज-रूप में कारण-शरीर में लीन रहते हैं। सुषुप्ति की अवस्था जाते ही हम पुन: कर्ता-भोक्ता बनकर स्वप्न तथा जाग्रत अवस्था में लौट आते हैं।

वस्तुत: 'सुषुप्ति' एक विशेष रहस्यमय अवस्था है। यह कर्त्ता-भोक्ता के रूप में हमारे सतत अस्तित्व में नित्य एक विच्छेद ला देता है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति-अवस्था में हमारा अस्तित्व बिल्कुल लुप्त हो जाता है। उस समय भी पूर्णत: शून्य की अवस्था नहीं आती। हम अनुभव करते हैं कि सुषुप्ति के समय भी हमारा अस्तित्व बना रहता है। जागने पर हम कहते हैं – "नींद बड़ी गहरी लगी थी, स्वप्न तक नहीं देखा।" पर किस साक्ष्य के आधार पर हम निश्चयपूर्वक ऐसा कह पाते हैं? हमारी सत्ता का सक्रिय भाग तो तब मंच से लुप्त हो गया था। निश्चय ही उस समय भी हमारी सत्ता का कोई विशेष अंश सुषुप्ति अवस्था का साक्षी था। **ऐसे कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से रहित जो विशुद्ध साक्षी है, वह सर्वदा जाग्रत रहता है।** उसके अस्तित्व का कभी लोप नहीं होता। वह साक्षी-चैतन्य ही हमारी आत्मा – हमारा सच्चा स्वरूप है। आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता। यह आत्मा ही हर जन्म में जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं और जीव की सभी अनुभूतियों तथा कर्मों का नित्य साक्षी है।

हम वस्तुत: यही साक्षी-चैतन्य आत्मा हैं। हमारा कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व रूपी जीवत्व भी हमारे बोध का एक विषय मात्र है। बुद्धि के परे[१२] तथा बुद्धि से पृथक् शुद्ध चैतन्य-रूप में हम अमर हैं। यही हमारा स्वरूप है। हिन्दू-शास्त्र कहते हैं कि एक सर्वव्यापी अखण्ड सत्ता ही सबकी आत्मा है।

१०. सत्यानृते मिथुनीकृत्य – 'ब्रह्मसूत्र' पर शांकर-भाष्य की भूमिका
११. कठ उपनिषद्, १/३/३-४ १२. गीता, ३/४२

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सखा के प्रति

स्वामी विवेकानन्द

(यह कविता स्वामीजी द्वारा ही अनुप्राणित बँगला पाक्षिक पत्रिका 'उद्‌बोधन' के प्रथम वर्ष की द्वितीय संख्या में प्रकाशित हुई थी। इस परमोत्कृष्ट कविता में उन्होंने इस जगत् में दृश्यमान विरोधाभास का बड़ा ही अनुपम चित्रण किया गया है। स्वामीजी कहते हैं कि जिस संसार के लोग अँधेरे को प्रकाश का, दु:खों को सुख का तथा शिशु के रुदन को ही जीवन का लक्षण मानते हैं, बुद्धिमान व्यक्ति उसमें सुख की आशा कैसे करे ! मूल बँगला से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा इसका यह नवीन हिन्दी गीति-रूपान्तरण राग 'केदार' में निबद्ध है। – सं.)

घोर अँधेरे को कहते, 'आलोक' जहाँ के लोग,
सुख-नीरोग का भ्रम उपजाते, जहाँ दु:ख औ रोग;
शिशु-क्रन्दन में ही होता है, जहाँ प्राण का बोध,
हे मतिमान्, व्यर्थ तुम करते, इसमें सुख का शोध ।।

द्वन्द-युद्ध चलता रहता है, इस जग में अविराम,
नहीं पिता अपने सुत को भी, देता निज स्थान;
'स्वार्थ-स्वार्थ' की ही ध्वनि प्रतिपल, गूँज रही है जिसमें,
कैसे भला मिलेगी तुमको, झलक शान्ति की इसमें !!

स्वर्ग सदृश लगती यह दुनिया, किन्तु नरक साक्षात्,
फिर भी कौन इसे त्यागेगा, भले समझ ले बात;
बँधे हुए जिसकी गरदन में, कर्म-फलों के पाश,
क्रीत-दासवत् वह बेचारा, जाये किसके पास !!

योग-भोग संन्यास-गृहस्थी, जप-तप अर्जन-कर्म,
त्याग-तपस्या औ कठोर व्रत, सबका देखा मर्म;
जान लिया है इन सबमें है, नहीं सुखों का लेश,
जन्म-ग्रहण ही है विडम्बना, और निरर्थक क्लेश ।।

जितना उच्च तुम्हारा अन्तर, उतने ही दुख-भोग्य,
हे प्रेमी, नि:स्वार्थ हृदय के, जग न तुम्हारे योग्य;
लौहपिण्ड जो सह सकता है, अति प्रचण्ड आघात,
मर्मर की भी मूर्ति उसे, क्या झेल सकेगी, भ्रात !!

हो जाओ जड़प्राय, अधम अति, संवेदन से हीन,
मुख से मधु बरसे लेकिन, अन्तर में जहर मलीन;
सत्य-न्याय से नाता तोड़ो, करो स्वार्थ का ध्यान,
तभी मिलेगा तुमको भाई, इस जग में स्थान ।।

विद्या पाने को करता था, मैं आप्राण प्रयास,
और उसी में कर डाला निज, अर्ध आयु का नाश;
पागलवत् भटका इस जग में, पाने सच्चा प्यार,
किन्तु भ्रमित हो पकड़ीं केवल, छायाएँ निस्सार ।।

धर्म-प्राप्ति के लिए किये फिर, तरह-तरह के साधन,
गंगातट पर या श्मशान में, रहे – किया आराधन;
नदियों के तट पर जाकर, फिर गिरि-गह्वर में वास,
भिक्षा-लब्ध अन्न को खाते, किया आयु का ह्रास ।।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

वह सत्-चित्-आनन्द का अनन्त सागर है। वही परब्रह्म है, इसी से स्थूल-सूक्ष्म सारे जगतों की सृष्टि हुई है और प्रलय के समय इसी में उनका लय होता है।

सचमुच ही आत्मा एक अखण्ड सत्ता है। हमारी पृथक्-पृथक् बुद्धियाँ आत्मा की चेतना से आलोकित होकर विभिन्न चेतन-सत्ताओं के रूप में प्रतीत होती हैं। जैसे चन्द्र सूर्य से आलोकित होता है, वैसे ही करोड़ों जीवात्माएँ एकमात्र ब्रह्म की चेतना से चैतन्य लगती हैं।[१३] स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् के अनुभूतिगम्य सारे विषय मानो जीवात्मा-रूप चन्द्रमा के प्रकाश से ही आलोकित होकर हमारे लिये ज्ञानगोचर होते हैं।

इसी प्रकार मनन करते हुए योग्य साधक को यथासमय धारणा हो जाती है कि वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से पृथक् साक्षी-रूप आत्मा है। मनन की सहायता से इतना अग्रसर होने पर साधक अन्य सभी विषयों से मन को उठाकर – "मैं साक्षी मात्र हूँ" – इस चिन्तन में उसे लगाने का प्रयास करे। यही है ज्ञानयोग का तृतीय साधन – निदिध्यासन। ऐसा विचार जब अत्यन्त गम्भीर हो जाता है, तब जगत् लुप्त हो जाता है तथा साधक परमात्मा के साथ अपने एकत्व का बोध करता है। इसी अवस्था को 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं।

इस प्रकार श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ज्ञानयोगी विश्व के विभिन्न स्तरों को भेदकर उसके मूल स्रोत तक पहुँच जाता है और चरम-उपलब्धि प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है।

१३. कठ उपनिषद्, २/२/१५

❖ (क्रमश:) ❖

छिन्न हो गये वस्त्र सभी थे, रहता था असहाय,
उदर-पूर्ति के हेतु भटकता, द्वार-द्वार पर हाय;
तप का भार सम्भाल न पाया, टूट गयी यह काया,
इतना सब करके भी क्या, वह धन अर्जित कर पाया !!

तुम्हें सुनाता बन्धु आज, निज अन्तर के उद्‌गार,
जान गया हूँ जीवन में, बस एक सत्य है सार;
घोर तरंगों से आकुल है, भव-समुद्र अनिवार,
एक नाव केवल ऐसी है, जो ले जाती पार ।।

मंत्र-तंत्र, चाहे जो कर लो, अथवा प्राणायाम,
'मत' अपना लो चाहे कोई, पढ़ लो शास्त्र-ललाम;
त्याग करो या भोग - सभी है, मति का भ्रम-अविवेक,
'प्रेम-प्रेम' बस 'प्रेम' मात्र ही, है धन-सम्पद् एक ।।

जीवों के, ब्रह्मा के हृदि में, मानव के, ईश्वर के,
भूतों-प्रेतों के अन्तर में, स्वर्ग-स्थित देवों के,
गृह-वनचारी पशुओं के भी, नभचारी विहगों के,
सूक्ष्म जीव-कीटों में भी है, वही 'प्रेम' हृदि सबके ।।

'देव-देव' - जो तुम कहते हो, कहो कौन वह भाई ?
बोलो - कौन चलाता सबको, देता नहीं दिखाई ?
प्राण निछावर करती माता, निज सुत की रक्षा हित,
चोर-लुटेरे भी करते, निज कर्म, प्रेम से प्रेरित ।।

मन-वाणी से अगम-अगोचर, है उनका अस्तित्व,
सुख में और दुखों में भी है, उनका ही कर्तृत्व;
महाशक्ति जगदम्बा काली, मृत्यु-रूप में आतीं,
मातृ-रूप में आकर हमको, अपनी गोद उठातीं ।।

रोग-शोक, निर्धनता-पीड़ा, जो जीवन में आते,
पाप-पुण्य और उनके फल, जो बुरे-भले हम पाते ।
हर प्रकार से एक उन्हीं की, होती है यह पूजा,
कौन जीव, अब बोलो भाई, क्या कर सकता दूजा ?

भ्रान्त जीव, जो सुख पाने की, नित्य कामना करते,
और करे दुख की इच्छा, उन्मादी उसको कहते;
मृत्यु माँगता है जो, वह भी, पागल कहलाता है,
अमृतत्व का सपना भी, बस मन को बहलाता है ।।

प्रतिभा और बुद्धि के रथ पर, तुम चाहे चढ़ जाओ,
घोड़ों को सरपट दौड़ाते, अति सुदूर पहुँचाओ;
भव-समुद्र को ही पाओगे, छानो चाहे धरती,
जिसमें सुख-दुख की ही लहरें, प्रतिपल नित्य उमड़तीं ।।

नभचारी विहंग हो तुम, लेकिन पंखों से हीन,
नहीं पलायन का पथ कोई, इस पर करो यकीन;
बार-बार कोशिश करके भी, पाते हो आघात,
व्यर्थ चेष्टा फिर भी, करते रहते हो क्यों तात !!

छोड़ो जप-यज्ञों का औ अपनी विद्याओं का बल,
एकमात्र निःस्वार्थ प्रेम को, बन्धु - बनाओ सम्बल;
देखो, कैसा प्रेम सिखाता, लघु पतंग का जीवन,
स्वतःप्रवृत हो अग्निशिखा का, कर लेता आलिंगन ।।

अधम कीट ज्यों रूपमुग्ध हो, अन्धा-सा हो जाये,
वैसे ही तव मत्त हृदय में, प्रेम-सिन्धु लहराये;
हे प्रेमी, जो स्वार्थ और मालिन्य तुम्हारे उर में,
अग्निकुण्ड में करो विसर्जन, उनका तुम पल भर में ।।

भिक्षुक अपना जीवन जी कर, बोलो - क्या सुख पाता ?
कृपापात्र होकर जीने में, लाभ कहाँ है, भ्राता !
बन्धु, तुम्हारे अन्तर में यदि शक्ति और सम्बल हो,
देते रहो बिना प्रत्याशा, तुम सदैव निश्छल हो ।।

तुम अधिकारी हो अनन्त के, सारा विश्व तुम्हारा,
सदा उमड़ता तव अन्तर में, प्रेम-सिन्धु वह न्यारा;
देता रहे निरन्तर कोई, मगर करे प्रत्याशा,
उसका सिन्धु बिन्दु होकर, लायेगा घोर निराशा ।।

ब्रह्मा से अति सूक्ष्म कीट तक, जग है जिसका श्वास,
वही प्रेममय सब जीवों में करता नित्य निवास;
अपना तन-मन-प्राण और इस जीवन का भी प्रतिक्षण,
इन सबके चरणों में करते रहो, सतत ही अर्पण ।।

बहु रूपों में विचरण करते, प्रभु सामने तुम्हारे,
इन्हें छोड़ तुम उन्हें ढूँढ़ते, फिरते मारे-मारे;
सब जीवों से प्रेम करे जो, बलिहारी उस नर की,
वही कर रहा सेवा-पूजा, परम ब्रह्म ईश्वर की ।।

दैवी सम्पदाएँ – भूमिका (२)

भैरवदत्त उपाध्याय

गीता दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियों को जन्मजात मानती है। उनकी मान्यता है व्यक्ति दैवी अथवा आसुरी सम्पदाओं के साथ जन्म लेता है। (१६/४-५) पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि आसुरी सम्पदाओं को लेकर पैदा होनेवाले व्यक्तियों के लिये वह विकास की सम्भावनाओं के द्वार बन्द कर देती हो, अपितु वह तो उन्हें बार-बार प्रबोधन देती है कि आसुरी वृत्तियों के आचरण से अधम योनियों तथा अधम गति – नरकों की प्राप्ति होती है, अत: व्यक्ति को इनसे छुटकारा पाकर अपनी भलाई हेतु आत्मोत्थान की चेष्टा करनी चाहिए। इस साधना से व्यक्ति अपने उत्कर्ष की उच्चतर से उच्चतम दशा को, परमगति को, ब्राह्मीभाव को प्राप्त कर सकता है (१६/२१-२२), क्योंकि **मनुष्य योनि धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र दोनों ही है**। भोग और कर्म का अधिकार जीव को केवल इसी योनि में प्राप्त होता है, अन्य योनियाँ तो केवल भोग-योनियाँ हैं, अत: मनुष्य यदि चाहे तो अपने कर्मो के अधिकार का प्रयोग करके वह अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है।

कर्म करना मनुष्य की विवशता है। बिना क्रिया के वह एक पल भी नहीं रह सकता। जब कर्म करना हमारे शरीर का, हमारी भौतिक प्रकृति का धर्म या स्वभाव ही है, तब यदि हम विचार कर लें कि वह कर्म सत् है या असत्, व्यष्टि एवं समाज का हितकारी है या अहितकारी, उसके साध्य तथा साधन पवित्र हैं या अपवित्र, उसके पीछे निहित भावना क्या यज्ञमय है? क्या हम उसे अकर्ता तथा अभोक्ता की भावना से कर रहे हैं? हममें कर्म तथा उसके फल के प्रति आसक्ति तो नहीं है? और क्या वह पूर्णत: समष्टि-रूप परमात्मा को समर्पित है? यदि ऐसा हो, तो वह कर्म कर्मयोग बन जाता है।

कर्मयोगी कभी नष्ट नहीं होता, साधना में चूक होने पर भी वह श्रीमानों अथवा योगियों के ही घरों में जन्म लेता है और अपनी वासना (संस्कार) के अनुसार पुन: यज्ञकर्म में लग जाता है। इस प्रकार सतत लगा हुआ वह अनेक जन्मों में से किसी भी जन्म में परम गति को प्राप्त कर लेता है (६/४०-४५)।

कर्म चाहे भले हों या बुरे, अपने संस्कार छोड़ते हैं। मृत्यु के बाद भी वे व्यक्ति के साथ रहते हैं। मृत्यु के समय वह उसी प्रकार के चिन्तन से, कर्म संस्कारों से घिरा होता है, जिसके फलस्वरूप उसे तदनुकूल जन्म मिलता है और वह दैवी या आसुरी सम्पदाओं का स्वामी बनता है। जीव जब तक पूर्णत: दैवी सम्पदाओं का स्वामित्व नहीं पा लेता, तब तक उसका जन्म-चक्र सतत घूमता रहेगा। सिद्धि प्राप्त होने तक, साधना के लिए जीव की मानव रूप में अभिव्यक्ति होती रहेगी।

अति दुर्लभ मनुष्य योनि प्राप्त करनेवाला जीव यदि अपनी उन्नति चाहता है, यदि उसमें प्रगति की अभिलाषा विद्यमान है, तो शक्ति का स्रोत उसे कहीं बाहर तलाशने की जरूरत नहीं। वह स्वयं अपना शत्रु और मित्र है, उसका उत्थान उसकी ही चेष्टाओं से सम्भव है। विकास की अनन्त सम्भावनाएँ उसमें वर्तमान हैं। वह पूर्ण परमात्मा की सम्पूर्ण रचना है। उसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं है, अपूर्णता का अभाव है, आवश्यकता यही है कि वह परमात्मा को पूर्णत: समर्पित हो जाय, समग्र सक्रिय समर्पण कर दे, निकृष्ट प्रकृति की भौतिक चेतना को परा प्रकृति के साथ जोड़कर दोनों से परे पुरुषोत्तम भाव की अनुभूति कर ले।

अनासक्त भाव से निष्काम कर्मयोग में परायण रहे, तो व्यष्टि चेतना समष्टि चेतना से जुड़कर विराट् विश्व की अनुभूति करने में सक्षम होगी। वैयक्तिक अहं विनष्ट हो जायेगा और आसुरी प्रवृत्तियाँ दैवी प्रवृत्तियों में तथा राजसी एवं तामसी गुण सात्त्विक गुणों में रूपान्तरित हो जायेंगे, पर व्यक्ति के विकास का पड़ाव यहीं पर नहीं है, उसे दैवी सम्पदाओं –सात्त्विक गुणों से भी आगे बढ़ना है, निस्त्रैगुण्य बनना है – **निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन** (२.२५), क्योंकि सात्त्विक गुण भी बन्धनकारी हैं। गुणों में आसक्ति के कारण ही जीव भोगों को भोगता हुआ सत-असत् योनियों में भटकता है (१३.२१)। जो जड़ शरीर से उत्पन्न इन तीनों गुणों को अतिक्रान्त करता है, वह जन्म-मृत्यु जरादि के दुखों से विमुक्त होकर अमृतत्व का उपभोग करता है (१४.२०)। इन गुणों को अतिक्रान्त वही करता है, जो राग-द्वेष से परे है, गुणों में न आसक्त है और न अनासक्त, न आकृष्ट है न अनाकृष्ट, जो सुख-दुख, मान-अपमान, प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वात्मक भावों से परे है, जो स्वयं को कर्त्ता नहीं मानता और एकनिष्ठ परमात्मा को समर्पित है, वही गुणातीत है और वही ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।

'गुणातीत का अर्थ' – गुणों से रहित हो जाना नहीं, वरन् गुणों का रूपान्तरण है। ऐसी स्थिति में सत्त्वगुण बौद्धिक ज्ञान देनेवाला न रहकर ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति में बदल जाता है, रजोगुण व्यक्तिपरक क्रिया से रहित होकर निर्वैयक्तिक सक्रियता बन जाता है और तमोगुण अज्ञान व जड़ता से मुक्त होकर ब्रह्म-भाव की पूर्ण शान्ति (जो पूर्ण ज्ञान तथा क्रिया से युक्त रहती है) बन जाता है। गुणातीत व्यक्ति कर्म करता हुआ भी गुणों से अलिप्त रहता है, क्योंकि वह ब्रह्म का निमित्त होकर कर्म करता है। गुणातीत अवस्था तक पहुँचने में सात्त्विक गुणों का सहयोग मिलता है, जबकि राजसी एवं तामसी गुणो से बाधाएँ

आती हैं। अतः सात्त्विक गुणों के आचरण, उनकी प्राप्ति के प्रयास और उनकी धारणा की योजना अवश्य होनी चाहिये। इसीलिए गीता कर्मों के त्याग का आदेश नहीं देती, अपितु उन्हें मनीषियों को भी पवित्र करनेवाला कहकर इसके सम्पादन को अनिवार्य मानती है। वह कर्म तथा उनके फलों में आसक्ति का निषेध करती है (१८/५-६)। उसका मत है कि मोक्ष की आकांक्षा रखनेवालों के द्वारा भी कर्म किया जाना चाहिए। किसी भी अवस्था में इनका त्याग उचित नहीं है। जनक आदि योगियों ने कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (३/२०)।

जीव विकास की अवस्थाओं को पार करता हुआ, भौतिक जड़ प्रकृति से जब इन्द्रिय-मन तथा बुद्धि के धरातल तक पहुँच जाता है, तब क्षर-भाव के संयोग के कारण वह वहीं पर अपने विकास की इति मान लेता है, भौतिक ज्ञान से ही तृप्त हो जाता है; पर लक्ष्य तो इससे आगे वहाँ है, जहाँ मन और बुद्धि की कोई पहुँच नहीं है – **यो बुद्धेः परतस्तु सः** (३/४२)। इन्द्रिय-मन व बुद्धि तक दुष्पूर कामनाओं की सीमा है, स्पृहा, ममत्व तथा अहंकार की छाया वहाँ तक चली जाती है, इससे परे ही ब्राह्मी स्थिति है, परम शान्ति है। निष्काम कर्म-चेतना का अनन्त प्रवाह वहीं से प्रस्फुटित होता है, जीव का विश्रान्ति-स्थल वहीं है, विकास का परम लक्ष्य और चेतना का चरमोत्कर्ष भी वहीं है। क्षर-तत्त्व से पुरुषोत्तम-भाव तक की यह यात्रा ही जीव के विकास की यात्रा है।

अशुभ की समस्या और गीता

पश्चिमी धर्म-दर्शन की एक बड़ी समस्या अशुभ (evil) की है। अशुभ से तात्पर्य बुराई, पीड़ा, हानि, दुर्जनता व असुरता है। हम देखते हैं कि संसार में कुछ लोग आनन्द व ऐश्वर्य का भोग करते हुए स्वर्गीय सुख की अनुभूति कर रहे हैं, तो कुछ लोग आजीवन कष्ट भोगने को विवश हैं। व्यक्ति के जीवन में ही कभी अपार सुख के साधन जुट जाते हैं, तो कभी अभावों के बीच वह नारकीय जीवन जीने को बाध्य है। कहीं देवत्व के दर्शन हैं, तो कहीं असुरत्व के रौद्र व बीभत्स रूप दीख पड़ते हैं। कहीं प्रेम, करुणा, सहानुभूति, क्षमा, सरलता, परोपकार आदि दिव्य गुणों की सरिता प्रवहमान है, तो कहीं लम्पटता, धूर्तता, हिंसा, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या तथा द्वेष आदि आसुरी गुणों का नग्न ताण्डव चल रहा है। कहीं कोई अन्न के दाने-दाने को तरस रहा है, तो कहीं किसी के पास खाद्य-पदार्थों का अक्षय भण्डार है। कहीं कोई किसी के रिसते घावों को काँटों से कुरेद कर नमक छिड़क रहा है, तो कहीं कोई मसीहा बनकर किसी के घाव पर निःस्वार्थ भाव से मरहम-पट्टी कर रहा है। ऐसी विचित्रता क्यों है? प्रकाश और अन्धकार, आनन्द और पीड़ा, मृदुता और कठोरता, हास्य और रुदन का यह सह-अस्तित्व क्यों है? जब जगत् सर्व-शक्तिमान प्रभु की रचना है और प्रभु पूर्णतः आनन्दस्वरूप हैं, तो फिर इस सृष्टि में हाहाकर क्यों है? परम दयालु ईश्वर क्यों अवांछित पीड़ादायी परिस्थितियों या तत्त्वों के सृजन में तत्पर हैं? क्यों असुरों को पैदा कर उन्हें वरदान देते हैं? वे ऐसी सृष्टि क्यों नहीं रचते, जहाँ पीड़ा की कल्पना तक न हो, आसुरी गुणों का मोहपाश न हो, असुरों या असुरता की आशंका और अशुभ या बुराइयों की रंच मात्र भी सम्भावना न हो? उन्होंने स्वर्ग के साथ नर्क क्यों रचा? केवल स्वर्ग ही क्यों नहीं रहने दिया? ईर्ष्या-घृणा, राग-द्वेष आदि भाव क्यों उत्पन्न किये? प्रेम, सहानुभूति, करुणा, परोपकार आदि के मनोरम भावों की ही सुन्दर सृष्टि क्यों नहीं की?

ये प्रश्न सहज हैं, पर इनके उत्तर कठिन हैं। प्रत्येक धर्म, धर्माचार्य या दार्शनिक इन पर विचार करने को बाध्य है। उसे इनका उत्तर देना ही होगा, भले ही उससे कोई सन्तुष्ट हो या न हो। ये प्रश्न केवल ईश्वरवादी के लिये ही नहीं हैं, अनीश्वरवादी को भी ये अवश्य ही झकझोरते है। पैगम्बरवादी धर्मो ने शैतान या इब्लिस का अस्तित्व माना है कि वही हमारे पापों का कारण है और हमें दिग्भ्रमित कर पापों में प्रेरित करता है। पर उनके दण्ड के लिए उत्तरदायी हम होते हैं। यदि हम ईश्वर की इबादत करें, तो कयामत के समय वे हमें माफ कर देंगे। इससे शैतान या इब्लिस ईश्वर की अपेक्षा वह अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता है और उसके अनादि होने को भी स्वीकार करना पड़ता है, जिससे ईश्वरवादियों को गम्भीर आघात लगता है।

संसार में दुःख के प्रायः तीन कारण हैं – (१) प्राकृतिक कारण (२) मनुष्य के अवगुण, जिससे मनुष्य स्वयं अपने दुराचरणों के द्वारा स्वयं तथा दूसरों को भी दुःख पहुँचाता है। मनुष्य के कारण मनुष्य को जितनी पीड़ा भोगनी पड़ती है, उनके लिए मनुष्य ही उत्तरदायी है। (३) तीसरा कारण मनुष्य का अज्ञान है, जिसके कारण वह आज भी अनेक रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों में जकड़ा हुआ है। मनुष्य प्राकृतिक व अज्ञानजनित अशुभों की अपेक्षा नैतिक अशुभों से अधिक पीड़ित है। मनुष्य में लोभ-लालच, ईर्ष्या-द्वेष, अहंकार आदि वे अनैतिक अशुभ हैं, जिनसे प्रेरित होकर वह दुराचरण करता है। 'मानस' में गोस्वामी जी कहते हैं – जैसे एक ही तालाब से कमल तथा जोंक और एक ही समुद्र से सुधा और सुरा पैदा होते हैं, वैसे ही साधु व असाधु का जनक भी एक ही ईश्वर है –

उपजहिं एक संग जग माहीं।
जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ।।
सुधा-सुरा सम साधु-असाधू।
जनक एक जग जलधि अगाधू ।।

परमेश्वर ने जड़-चेतन सम्पूर्ण जगत् को गुण-दोषमय बनाया है, परन्तु सन्तगण ऐसे हंस हैं जो अवगुण-रूपी जल को छोड़कर गुण-रूपी दूध पी लेते हैं –

जड़ चेतन गुण दोषमय, विस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार ।।

गीता के वचन हैं कि जितने भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव हैं उन सबकी उत्पत्ति परमात्मा से होती है, पर वे भाव न तो परमात्मा में रहते हैं और न परमात्मा उनमें रहता है (७/२)। इन तीनों गुणों से सम्पूर्ण जगत् मोहित है। यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति परमात्मा की माया है, जो दुस्तर है। यह मूढ़ अज्ञानियों के ज्ञान को हर लेती है, जिससे वे आसुर भाव को प्राप्त होते हैं (२/१३-१५)। जीवात्मा प्रकृति अर्थात् त्रिगुणों में आसक्ति के परिणाम-स्वरूप ही उनके फलों को भोगता है (१३/२१)। परमात्मा लोक के लिए न तो कर्मों की सृष्टि करता है, न कर्मफलों और न कर्तृत्व का। इन सबकी रचना तो प्रकृति करती है (५/४)। जीवात्मा गुण, कर्म, स्वभाव, काल आदि कारणों से इनका चयन करता है और मानव-पीड़ा का कारण बनता है। कामनाएँ व्यक्ति की परम शत्रु हैं। इनसे व्यक्ति का विवेक आवृत हो जाता है। कामनाएँ पहले मन को आकृष्ट करती हैं, फिर बुद्धि का अपहरण कर लेती हैं, तब व्यक्ति बुराई का चयन करता है। इसलिए पहले कामनाओं पर विजय पाना आवश्यक है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, अत: त्रिगुणातीत होने पर नैतिक अशुभ से ही नहीं, नैतिक शुभ से मुक्ति मिल सकती है।

गीता आसुरी और दैवी दोनों सम्पत्तियों को त्रिगुणात्मक मानती है, अत: इनसे परे जो पुरुषोत्तम तत्त्व है, उन परम शुभ परमात्मा तक पहुँचने की दिशा निर्देशित करती है। प्रकृति ने जहाँ शुभाशुभ का निर्माण किया है, वहीं परमात्मा ने जीवात्मा को चयन की स्वाधीनता, उसकी योग्यता तथा क्षमता भी दी है। उसमें बुद्धि, ज्ञान तथा विवेक की शक्तियाँ दी हैं, जिनके उपयोग से वह सत् या शुभ का चयन कर सकता है। उसे राग-द्वेष – दोनों से ऊपर उठकर स्थितप्रज्ञ होना चाहिए। बुद्धि की अनिश्चयात्मक अवस्था खतरनाक है। गीता का समत्वयोग ऐसी साधना है, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि पर विजय पाई जा सकती है। समत्व-योगी न सुकर्म करता है न दुष्कर्म, क्योंकि उसकी इन दोनों में आसक्ति नहीं होती। वह कर्म करता है, पर न राग से प्रेरित होता है न द्वेष से। उसके समस्त कर्म यज्ञ तथा लोक-हित के लिए होते हैं। अकर्म अर्थात् सकाम कर्मों में उसकी आसक्ति नहीं होती – **मा ते सङ्गोऽस्तु अकर्मणि।**

उसमें कर्त्ता और भोक्ता के अहंकार नहीं होते, अत: वह परम शुभ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है – इस समत्व-योग से युक्त आत्मावाला सर्वत्र समदर्शी एकात्म-भाव में स्थित व्यक्ति कभी नष्ट नहीं होता (६/२९-३२)। वह किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता, अशुभ का चयन नहीं करता और सुख-दु:ख की द्वन्द्वात्मक अनुभूति नहीं करता। भारतीय धर्म-दर्शन अशुभ का मूल कारण मन को मानता है, अत: उसके निग्रह, आत्मसंयम, तथा उदात्तीकरण की साधना पर बल देता है। उसकी दृष्टि में ये समस्याएँ नहीं, अपितु हमारे मन के ही भाव हैं। इससे जो विचलित नहीं होता, वह धीर और अमृतत्व का अधिकारी है। (२/१५)

अशुभ शक्तियाँ ही आसुरी शक्तियाँ या आसुरी सम्पदाएँ हैं जो मानसिक या प्राणिक अहंकार के रूप हैं। ... कुछ ऐसे जीव हैं, जो प्रकाश-सत्य तथा शुभ का विरोध करते हैं। इनके पारस्परिक संघर्ष की कथाएँ पुराणों और गुह्यविद्या की सभी प्रणालियों में विद्यमान हैं। वैदिक देवों और उनके विरोधियों अर्थात् अन्धकार एवं विभाग के पुत्रों (पणि, वृत्र, दैत्य) जिन्हें परवर्ती काल में असुर, राक्षस, पिशाच कहा गया है, के युद्ध का यही तात्पर्य था। यही परम्परा पारसी धर्म में 'अहुरमज्दा' और 'अहिर्मन' के विरोध में, यहूदी धर्म के ईश्वर उसके दूतों और शैतान तथा उसके दलों के विरोध में दिखाई देती है। इनमें से एक मनुष्य को दिव्य प्रकाश एवं सत्य तथा शुभ की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है, तो दूसरी शक्ति से उसे अन्धकार एवं मिथ्यात्व तथा अशुभ रूप आदि तत्त्वों की दिशा में कदम बढ़ाने का प्रलोभन मिलता है।

गीता का उद्देश्य है – मानव को दिव्यता की प्रेरणा देकर पूर्ण बनाना; विकास की सारी सम्भावनाओं के द्वार खोलकर पूर्णत्व के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा देना; उसे पूर्णत: निष्कलुष तथा निष्कलंक बना देना, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द तथा अमरत्व के महोदधि में निमज्जित करना, बहुत्व तथा नानात्व के स्थान पर एकत्व का साक्षात्कार कराना, वैयक्तिक चेतना को विश्वात्मक तथा विश्वातीत चेतना में रूपान्तरित करा देना; अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, तथा विज्ञानमय कोशों के पड़ाव से आगे आनन्दमय कोश तक की अन्तर्यात्रा को लक्ष्य तक पहुँचा देना और देवत्व के आसन पर बैठा देना। ब्राह्मी-स्थिति, ब्रह्मभूत, त्रिगुणातीत, स्थितप्रज्ञ, सम, शान्त, दान्त, नित्य-संन्यासी, निर्द्वन्द्व, योगयुक्त, अकाम, निर्मम और निर्मोह की अन्तिम दशा तक ले जाना; जहाँ से फिर लौटना नहीं होता, जो जीवन का चरम गन्तव्य है, परम पद है, जिसकी अनवरत खोज ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए –

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।। १५/४

दैवी सम्पदाएँ इसी परम पद की प्राप्ति की साधना-भूमियाँ हैं, जिनके माध्यम से ही मानव की मानवता की रक्षा, संवर्धन और मानव का ऊर्ध्व-विकास सम्भव है। **(क्रमश:)**

स्वामी विवेकानन्द की स्मृतिकथा

स्वामी अखण्डानन्द

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुए हैं और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हुआ है। प्रस्तुत संस्मरण बँगला मासिक 'उद्बोधन' के जनवरी १९८० अंक से और स्वामी अखण्डानन्द जी के अन्य ग्रन्थों व वार्तालापों से संकलित किया गया है, अनुवादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

भागलपुर में स्वामीजी तानपुरा लेकर गा रहे थे – संध्या से लेकर रात के बाहर बज गये, एक ही गाना चल रहा था –

नहीं आया नहीं आया कुंज में श्याम नहीं आया,
रात बीतने लगी है फिर भी तो वह नहीं आया ।।

गाना रुकता ही न था। कितने ही गणमान्य लोग बैठे थे, कोई उठ भी नहीं पा रहा था, उधर भोजन ठण्डा हुआ जा रहा था। अन्त में बुला-बुलाकर गायन भंग किया गया। स्वामीजी का भाव बड़ा प्रबल होता था।

हिमालय मानो शिव की मूर्ति है। हिमालय देखे बिना उन्हें जरा भी नहीं समझा जा सकता। शिव शंकर! शिव शंकर! अहा! शिवजी कितने सुन्दर हैं! ठाकुर ने मुझे चैतन्यमय शिव दिखाया था! फिर स्वामीजी ने दिखाया – जीव-जीव में शिव, जीवन्त शिव! असहाय, निर्धन, रोगी, भूखे, अन्नहीन, वस्त्रहीन – सब नारायण हैं। स्वामीजी की दृष्टि ही अलग थी।

स्वामीजी के साथ हिमालय-भ्रमण के समय एक जगह स्वामीजी स्वयं वन के भीतर से होकर गये और मुझसे थोड़ा घूमकर जाने को कहा। थोड़ी दूर जाने के बाद स्वामीजी से भेंट हुई। देखा स्वामीजी अकेले हैं, लेकिन हँस रहे हैं, मानो किसी के साथ बातें कर रहे थे, आँखों तथा मुख पर एक तरह के आनन्द का भाव था। मैंने पूछा, "भाई, किसके साथ बातें कर रहे थे?" वे चुपचाप मुँह ढँककर केवल हँसने लगे।

स्वामीजी और मैं दोनों हिमालय की ओर जा रहे थे। एक जगह देखा – एक साधु कपड़े से सिर तक ढँककर ध्यान करने बैठा है और जोरों से खर्राटे भर रहा है। स्वामीजी चिल्ला उठे – "बेटा बैठे-बैठे मजे-से सो रहा है, इसके कन्धे में हल बाँध, तब कहीं उसका कुछ भला हो, तो हो।"

ऋषीकेश में स्वामीजी से पूछा गया – "आप लोग गिरी हैं या पुरी?" स्वामीजी ने उत्तर दिया – "कचौड़ी।" दश-नामियों में यह सब है – गिरि, वन, पर्वत, सागर, आश्रम।"

ऐसा नहीं है कि गढ़वाल के सभी निवासी पत्थरदिल हैं। इसके मुकाबले में पूर्वी परगना के दासौली स्थान के लोग अधिक अतिथि-परायण हैं, विशेषकर बद्री-नारायण के पास के लोग। हिन्दी में एक कहावत है, "गढ़वाली सरीखा दाता नहीं, लठ्ठ के बगैर देता नहीं।" अर्थात् वैसे तो गढ़वाली बड़े दानी होते हैं, परन्तु जब उन्हें डराया जाए, केवल तभी। ... हम तीन लोग – स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द), सारदानन्द और मैं – टेहरी से श्रीनगर जा रहे थे। रात के समय हमने एक गाँव की धर्मशाला में आश्रय लिया। मैंने गाँववालों से विनम्र भाव से थोड़ी जलौनी काठ और आग देने का अनुरोध किया, परन्तु किसी ने मेरी बात नही सुनी। मैं गाँव के हर व्यक्ति के पास गया, पर किसी ने भी कोई जवाब नहीं दिया। तब मुझे यह कहावत याद आई। हम तीनों गाँव के एक चबूतरे पर खड़े होकर जोर-जोर से चिल्लाने लगे – "हमारे लिए लकड़ी लाओ, आग लाओ।" इसका प्रभाव पड़ा। हर व्यक्ति कुछ-न-कुछ लाया। कुछ लोग आग लाए, कुछ जलौनी लकड़ी लाए, अन्य लोग रोटी, दूध या सब्जियाँ लाए। उन लोगों ने यह सारी चीजें सामने रख दीं और हमारे चारों ओर हाथ जोड़कर खड़े हो गए। इसके बाद से हमें यह बताने की जरूरत नहीं थी कि हमें क्या चाहिए। अब वह उन लोगों से, एकदम भिन्न व्यक्ति थे, जिनसे मैंने विनम्रतापूर्वक याचना की थी, वे काफी भयभीत लगते थे और मैंने सोचा – यदि हम थोड़ा और चिल्लाए होते, तो ये लोग अपनी झोपड़ियाँ और घर तक खुले छोड़कर भाग गए होते।

बेलूड़ में एक दिन स्वामीजी अपने भ्रमण-काल की बातें बता रहे थे। मैं भी बीच-बीच में उनके द्वारा भूली हुई घटनाओं की याद दिला देता था। इस पर वे मुझे डाँटते हुए बोले, "बड़ा बक-बक कर रहा है, चुपचाप बैठकर ध्यान कर।" मैंने ऐसा ही किया, पर वह भी स्वामीजी को सहन नहीं हुआ। उस समय हिमालय-भ्रमण के प्रसंग में महाशोल मछली की बात उठी। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्यों रे, वह मछली कितनी बड़ी थी?" मैं तो मानो ध्यानमग्न बैठा था, वैसे ही आँखें मूँदे हुए मैंने दोनों हाथ फैला कर बता दिया – 'इतनी बड़ी'। और फिर ध्यान में डूब गया। इस पर सभी बड़े जोरों से हँसने लगे।

और एक बार की बात है। राजपूताने में एक आलसी, बुद्धिहीन जैसे लड़के को उसके घरवाले स्वामीजी के पास ले आये। वे लोग समझते थे कि यह लड़का साधना में खूब आगे बढ़ गया है, इसीलिए ऐसा हो रहा है। तो स्वामीजी एक पहुँचे हुए महात्मा हैं, वे क्या कहते हैं, सुन लें कि – 'लड़का कहाँ तक पहुँचा है, उपलब्धि की किस अवस्था में है!' स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया, "ले जाओ उसे मदिरालय

और उससे जुड़ी जगह में, उससे कहीं उसकी बुद्धि लौटे, तो लौटे। वहाँ एक क्रिया होगी, उसकी प्रतिक्रिया में सम्भव है वह जाग जाए।'' ऐसी थी उसकी अवस्था।

यही सब देख वे कहते, "सत्त्व की आड़ में देश तमस् के सागर में डूब रहा है।'' फिर कहते, "इससे इसे बचाने के लिए सिर से पैर तक नस-नस में बिजली तड़काने-वाला तीव्र रजोगुण चाहिए।'' इसीलिए तो कर्म पर इतना जोर दिया। जो होने का हो, होने दो; तुम तो अपना कर्म किये जाओ – तब कहीं कुछ होगा, जरूर होगा। न साहस है, न शक्ति, न विश्वास – सर्वदा भय कि कहीं न कर सका तो ! इसीलिए तो पिछड़ जाते हो। असफलता आने दो, लोगों को बुरा कहने दो; तुम तो साहस, विश्वास और समर्पण के साथ प्रभु का नाम लेकर काम किये जाओ।

स्वामीजी कहते – "जो लोग काम-काज के डर से ध्यान में बैठते हैं, उन्हें हल में जोतना चाहिए।'' वे सब जानते थे, इसीलिए सावधान करते हुए कहते – "संन्यासियों के लिए आलस्य बड़ी भयंकर बात है, उसी का बड़ा डर है। और यही हमारा काल बनेगा।'' केवल खाना और सोना। उच्च चिन्तन और उच्च भाव के धारण की शक्ति भी चली जायेगी।

रुपये-पैसे के साथ मेरा चौदह वर्ष कोई सम्बन्ध न था। पहाड़ में, जंगल में या मार्ग में यदि एक रुपया भी साथ रहता, तो लौट नहीं पाता। कुछ नहीं था, तो भी (गुजरात में) लाठी मार अधमरा कर दिया था। सोचो, रहने से क्या हाल होता ! जब स्वामीजी को (कच्छ अंचल में) खोज रहा था, तो नारायण-सरोवर के मार्ग में डाकुओं के हाथ पड़ गया। अन्त में जब स्वामीजी से भेंट हुई, तो उन्होंने सब सुनकर, विशेषत: यह सुनकर कि साथ में रुपया-पैसा नहीं था, कहा – "इसलिए तो तुझे इतना प्यार करता हूँ।''

पहले मेरा हृदय बड़ा ही कठोर था। बाद में हिमालय गया। ... हिमालय न जाने पर मेरा कठोर हृदय नरम नहीं होता और राजपुताने में पतित-अन्त्यज जातियों के लिए रो नहीं उठता। वहीं से मैंने पहली बार स्वामीजी को लिखा – "My nation first, myself second. I for others." – (पहले देश, फिर मैं और मेरा जीवन दूसरों के लिए)। तब (१८९४ ई.) मेरे मन का भाव था – "स्वामीजी यदि मुझे इस विषय में प्रोत्साहित न करें, तो मध्य एशिया में चला जाऊँगा। स्वामीजी ने मुझे उत्साहित किया और सभी गुरुभाइयों को समझाने लगे। स्वामीजी समुद्र हैं। वे जब अमेरिका में व्याख्यान दे रहे थे कि 'भारत को धर्म की नहीं, रोटी की जरूरत है' – उस समय उस देशप्रेम की तरंग ने आकर मुझ पर जैसा आघात किया, वैसा और किसी पर नहीं किया था। स्वामीजी यदि मुझे लिखते कि 'दूसरों की पीड़ा से तेरा कलेजा क्यों फटा जा रहा है? तू अपनी आत्मा का स्मरण-मनन लेकर रह, ध्यान-जप कर। तेरा इसी से हो जायेगा।' तो फिर जीवन भर के लिए यह देश छोड़कर मध्य एशिया चला जाता। उन दिनों जैसा मेरा मनोभाव था, उससे मैं बिल्कुल भी सहन नहीं कर पाता।

खेतड़ी में रहते समय मैंने स्वामीजी को अमेरिका में पत्र लिखा। रात ९ बजे लिखने बैठा और जब लिखना पूरा हुआ तो देखा भोर हो गया है। मैंने देश की अवस्था जैसी समझी है और मैं जो कर सकता हूँ – वह सब स्पष्ट लिखा और जानना चाहा कि मुझे क्या करना है। उत्तर की प्रतीक्षा में दिन गिनने लगा और तरह-तरह की बात सोचने लगा कि स्वामीजी क्या लिखेंगे। कही लिखें – "तू संन्यासी है, तुझे इतना सिरदर्द क्यों? साधन-भजन, शास्त्र-पाठ, भ्रमण लेकर रह। उन सब कामों में हाथ देकर 'अव्यापारेषु व्यापार' करने मत जा'' – तो क्या करना? निश्चय किया था कि यदि स्वामीजी उत्तर में ऐसा ही लिखें, तो किसी को कुछ न बताकर भारत छोड़कर चला जाऊँगा, जिससे मुझे देश की यह दुख-दुर्दशा न देखनी पड़े। कराकोरम होकर एकदम मध्य एशिया चला जाऊँगा, जहाँ जाने के लिए पहले ही निकल पड़ा था। स्वामीजी ही तो मुझे बुलाकर ले आये थे – यह कहकर कि उनके साथ हिमालय-भ्रमण करना होगा। क्योंकि पहाड़ों का रास्ता मेरा जाना हुआ था। स्वामीजी के पत्र के लिए उत्सुक बैठा था। उत्तर आया। यह पत्र आंशिक रूप से प्रकाशित हुआ है। पत्र पढ़कर ज्ञात हुआ – वहाँ तूफान उठा है। उनके विशाल हृदय में सेवा-धर्म की जो लहर उठी थी, उसी ने आकर यहाँ (छाती पर हाथ रखकर) धक्का दिया। मेरे जीवन और कर्म की धारा उसी दिन निश्चित हो गयी।

स्वामीजी ने मुझे लिखा था – "हृदय ही विजयी होता है, मस्तिष्क नहीं ! प्रत्येक प्राणी हृदय की भाषा समझ लेता है।'' स्वामीजी के भीतर तीनों का ही विकास हुआ था। हमें पहले से ही चेष्टा करनी चाहिए। स्वामीजी के समान आध्यात्मिक हम भले न हों, उनके जैसा हृदय या बुद्धि हमारे भले न हो, पर हम उनके कार्य के अनुसरण का प्रयास तो कर ही सकते हैं। मठ में उन्होंने बड़े-बड़े हण्डे माँजे थे – उन पर एक-एक इंच परत मैल जमा था। तो हम लोग क्या एक कटोरी भी नहीं माँज सकते? जानते हो, उन्होंने मठ का शौचालय साफ किया था? एक दिन जाकर देखा – बड़ी दुर्गन्ध आ रही है। वे सब कुछ समझ गये। उन्होंने मुँह पर गमछा बाँधा और दोनों हाथों में दो बाल्टी लेकर चल दिये ! जब दूसरों ने देखा तो दौड़े आये, कहने लगे, "स्वामीजी, आप !'' स्वामीजी हँस पड़े और बोले, "इतनी देर बाद 'स्वामीजी, आप'!''

स्वामीजी जरूर बहुत पहले ही कह गये थे – भ्रमण के समय बीच बीच में सिखला देते – "ये ये मंत्र हैं और उनके ये ये इष्ट हैं।'' उस समय मैं नहीं समझता था कि यह सब

वे मुझे क्यों बतला रहे हैं। उसके बाद पत्रों में भी वे लिखते – "सिर मुड़वाओ, चेले बनाओ।"

किसी विषय में शिक्षा प्राप्त करनी होती, तो हमारे मन में कभी यह नहीं आता कि वह तो आयु में मुझसे छोटा है, उससे कैसे पढ़ूँगा? स्वामीजी जैसे महा-विद्वान्! तो भी उन्होंने खेतड़ी में नारायण दास से पाणिनी-व्याकरण पढ़ना शुरू किया। वहाँ उनसे बढ़कर सम्माननीय कौन था! राजा के गुरु होने के कारण भी और अपनी त्याग-तपस्या तथा विद्वत्ता के कारण भी। उन्होंने मुझसे कहा था – "नारायण दास से एक छात्र के समान पढ़ना आरम्भ किया था।"

हमारे स्वामीजी अतुलनीय थे, महा-बुद्धिमान थे। उनमें क्रोध बिल्कुल भी नहीं था – 'अक्रोध-परमानन्द' थे। राजपुताना गया था, वहाँ नाई मेरा मुण्डन कर रहा था और कह रहा था – "महाराज, आप लोगों के स्वामीजी की कोई तुलना नहीं है। हम तो अपढ़ हैं, उनकी विद्वत्ता को भला क्या समझेंगे? परन्तु ऐसा धैर्य और क्रोध-संवरण करने की क्षमता अन्य किसी में देखने में नहीं आया। देखा – पण्डित लोग उन्हें तर्क में पराजित करने आये हैं, उनके प्रति अपमानसूचक बातें कह रहे हैं, और वे हँसते-मुस्कुराते हुए उन्हें उत्तर देते जा रहे हैं। जो लोग उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास कर रहे थे, आखिरकार वे ही उनके अनुगत हो गये।"

मठ में स्वामीजी किसी किसी दिन तर्क में लगा देते – पूर्वजन्म-जन्मान्तर आदि है या नहीं। दो पक्ष हो जाते। वे मध्यस्थ बनते – कभी एक पक्ष की ओर से बोलते, तो कभी दूसरे पक्ष की ओर से। जिनके तर्क समाप्त होने लगते, उन्हें कुछ कहकर और भिड़ा देते। रात के दो-दो बज जाते, तब कहीं सोना होता।

कामं के समय बात करना नहीं, सुनना भी नहीं। एक दिन स्वामीजी अखबार पढ़ रहे थे, मैं जोर से बुला रहा था। वे दत्तचित्त होकर पढ़ रहे थे। अन्त में बोले, 'मेरे मन कितने हैं?' जिस समय जो करोगे, उस समय सारा मन उसी में ढाल देना। तब बातचीत सब बन्द।

मन एकाग्र होने पर बाह्य जगत् से सम्बन्ध बिल्कुल लुप्त हो जाता है। स्वामीजी की ऐसी ही अवस्था हुआ करती थी। जब वे राजेन्द्र मित्र का लिखा बौद्धयुग का इतिहास पढ़ते, तो थोड़ी देर पढ़ने के बाद पुस्तक पड़ी रह जाती और उनका मन किसी अज्ञात राज्य में डूब जाता। वे कहते, "घर-द्वार, पुस्तक, कुर्सी, बेंच आदि सब कुछ लुप्त हो जाता – कुछ भी नहीं – मेरी सत्ता एक अनन्त के राज्य में खो जाती।" आचार्य शंकर और बुद्धदेव की भी ऐसी ही अवस्था हुआ करती थी।

स्वामीजी ने कहा था, "जब पहले की बातों को सोचने की कोशिश करता हूँ तो देखता हूँ मानो फिल्म चल रही है – कितने दृश्य, कितनी घटनाएँ! जो देखी हैं, जो नहीं देखी – ऐसी भी कई, जिन्हें शायद कभी न देखूँ!"

स्वामीजी ने कहा था – "देखो, हम निष्कपट होंगे। श्मशान में जाने पर तो संसारी गृहस्थ को भी वैराग्य होता है। वह देखता है कि इतना प्रिय शरीर देखते-ही-देखते जलकर खाक हो गया – इस पर उसे क्षण भर के लिए वैराग्य होता है। ऐसा तो सभी को होता है, पर वे लोग पुन: संसार में जाकर माया में भूल जाते हैं, डूब जाते हैं। लेकिन हम लोग जब समझ चुके हैं कि संसार क्या चीज है, तो फिर लौटेंगे नहीं; भगवान की प्राप्ति हो तो अच्छा है, नहीं तो नहीं सही, पर लौटेंगे नहीं। पाल तानकर धीरे धीरे चले जाएँगे। जब अनुकूल हवा बहेगी तो अग्रसर होंगे और जब प्रतिकूल हवा चलेगी तो ठहरे रहेंगे, पर लौटेंगे नहीं।"

स्वामीजी जब भी जिस भाव पर जोर देते, तो उस समय वहाँ उपस्थित सब को लगता कि यही सत्य है और बाकी सब व्यर्थ है। बेलुड़ मठ में गंगा-तट पर कितने ही दिन कितने प्रकार की बातें हुईं। जिस दिन जिस भाव पर चर्चा होती उस दिन मानो सम्पूर्ण मठ उसी भाव से परिपूर्ण रहता।

जिस दिन सेवा-धर्म की बात उठती, उस दिन वे ऐसा बोलते कि लगता मानो निष्काम कर्मयोग ही एकमात्र पथ है, बाकी सब मिथ्या है, भूल है। जिस दिन शास्त्र-पाठ या ध्यान-धारणा की बात उठती, उस दिन अन्य प्रकार का हो जाता, लगता कि ज्ञान का मार्ग या ध्यान का पथ ही एकमात्र पथ है, बाकी सब कार्य व्यर्थ हैं। उस दिन स्वामीजी को देखकर लगता कि वे साक्षात् शंकर या बुद्ध हैं।

यदि कोई सामान्य रूप से भी राधा-कृष्ण या गोपी-भाव की चर्चा छेड़ता, तो वे रोक देते और कहते "शंकर को पढ़, शिव के भाव में डूब जा।" त्याग, ज्ञान, धर्म, कर्म – इन सब बातों पर जोर देते। ... जिस दिन शिव का प्रसंग उठता, उस दिन लगता कि स्वामीजी ही साक्षात् शिव हैं, शंकर हैं। पूरे मठ में यही भाव बना रहता था। और जिस दिन बुद्ध के बारे में वार्तालाप होता, उस दिन ऐसा प्रतीत होता मानो यह भी एक शान्त स्थिर बौद्ध मठ है। फिर जिस दिन वे राधारानी के बारे में बोलने लगते, उस दिन तो मानो सारा बाँध ही टूट जाता – लगता कि वे स्वयं ही ब्रज-गोपिका हैं और सम्पूर्ण मठ गोपी-भाव से परिपूर्ण हो जाता था। स्वामीजी कितने ही बार कहा करते थे – Radha was not of flesh and blood, Radha was a froth in the ocean of love. – राधा रक्त-मांस की नहीं बनी थीं, वे तो प्रेमसागर के फेन से बनी थीं।"

स्वामीजी तो एक सिद्धान्त की प्रतिमूर्ति थे। ... वे रक्त-मांस से निर्मित न थे, वे भाव से बने थे। वे जैसा कहा करते थे, राधा रक्त-मांस की न थी, वह तो मानो प्रेमसागर की फेन से बनी थी। उसी प्रकार वे स्वयं भी रक्त-मांस के नहीं थे – वे भावों की एक प्रतिमूर्ति थे। सिद्धान्त का पालन बहुत

कठिन बात है। उसके लिए सब कुछ त्यागना पड़ता है। सिद्धान्त ही तो आदर्श है।

जानते हो हम लोगों का कैसा था? यदि कोई दोष किया, तो सबसे पहले स्वयं जाकर कहूँगा – मैंने यह दोष किया है। स्वामीजी (अमेरिका से) लौट रहे थे। एक गुरुभाई श्रीलंका चले। उनका उद्देश्य था कि किसी के बतलाने से पूर्व स्वयं ही सबसे पहले उनसे मिलकर अपने दोष की बात कह देना।

बेलूड़ मठ में एक दिन मैं भोर में जाग पड़ा। रात तब भी बाकी थी। उठते ही स्वामीजी को देखने की इच्छा हुई। दरवाजे के पास जाकर धीरे-धीरे दस्तक देने लगा। सोचा था कि स्वामीजी सोये हुए होंगे, पर वे जाग रहे थे। हल्का-सा दस्तक देते ही गाने के स्वर में उत्तर आने लगा –

Knocking knocking – who is there?
Waiting waiting – O how fair!
Waiting waiting – brother dear.

तब मठ नीलाम्बर मुखर्जी के बगीचे में था। एक दिन रात दो बजे तक चर्चा चलती रही – पुनर्जन्म है या नहीं? मानवात्मा की अधोगति होती है या नहीं? स्वामीजी ने तर्क में लगा दिया और मध्यस्थ बन चुप बैठे हँसते रहे। जब देखते कि एक पक्ष कमजोर हो रहा है, तो उसे नयी युक्ति दे उकसा देते। रात के जब दो बज गये, तो उन्होंने चर्चा तोड़ दी। फिर सब सो गये। चार बजते न बजते स्वामीजी ने मुझे उठा दिया। देखा कि वे इस बीच प्रातः क्रिया से निवृत्त हो टहल रहे हैं और गुनगुना रहे हैं। मुझसे कहा, "लगा घण्टा। सब उठें। इनका सोते रहना अब सहन नहीं कर पा रहा हूँ।" फिर भी मैंने एक बार कह दिया, "दो बजे तो जाकर सोये हैं, जरा और सो लें न।" इस पर स्वामीजी कठोर स्वर में बोले, "क्या? दो बजे सोये हैं, तो क्या छह बजे उठना होगा? मुझे दो, मैं घण्टा बजाता हूँ। मेरे रहते ही यह? सोने के लिए मठ है क्या?" तब मैंने खूब जोर जोर से घण्टा लगाया। सब हड़बड़ाकर उठ बैठे, चिल्ला पड़े – "कौन है जी, कौन है जी?" शायद वे मुझे नोच ही डालते, पर देखा कि मेरे पीछे स्वामीजी खड़े-खड़े हँस रहे हैं। तब लोग आँखें मलते-मलते उस ओर के कमरे में चले गये।

परोपकार में किसका उपकार है? – मेरा स्वयं का। यही तो स्वामीजी का कर्मयोग – उनका सेवा-धर्म है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में 'नेवले और सत्तू की कथा' के द्वारा प्रमाणित किया गया है कि त्याग और सेवा ही श्रेष्ठ धर्म है। निज के स्वार्थ का त्याग और आत्म-बुद्धि से सबकी सेवा, दया नहीं। यही कर्मयोग है – इसी का नाम सेवा-धर्म है। जो उपाय है, वही उद्देश्य भी है। सेवा से चित्तशुद्धि, सेवा से हृदय का विस्तार, सेवा से सर्वभूतों में आत्मदर्शन।

आजकल सर्वत्र विश्वप्रेम की चर्चा है। आत्मज्ञान होने पर ही विश्वप्रेम होगा। इसी से स्वामीजी का यह कथन समझा जा सकता है – **ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार; एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार। बहु रूपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश? व्यर्थ खोज यह, जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।** – जीव-सेवा ही शिव-सेवा है। जीव और है क्या? सभी तो शिव है। स्वामीजी ने दिखाया – जीव-जीव में शिव, जीवन्त शिव ! असहाय, दरिद्र, रुग्ण, भूखे, अन्नहीन, वस्त्रहीन – सब नारायण हैं। स्वामीजी की दृष्टि ही अलग थी। सच कहता हूँ – सबको खिलाने से ठाकुर खाते हैं, यह विश्वास मुझमें है – यह मैंने देखा है !

स्वामीजी बड़े रसिक थे। १८९८ ई. की बात है। मैं स्वामीजी के साथ दार्जिलिंग गया था। सहसा एक दिन सुबह देखा – बिल्कुल गम्भीर, दिन भर कुछ खाया नहीं, चुपचाप रहे। डॉक्टर को बुलाया गया, पर वे भी रोग का निदान नहीं कर सके। सिर के नीचे एक तकिया लगाकर सारे दिन बैठे रहे। बाद में पता चला कि कलकत्ते में प्लेग आया है और तीन-चौथाई लोग शहर छोड़कर चले जा रहे हैं – यह सुनने के बाद से ही यह हालत है। तभी स्वामीजी ने कहा था – "सर्वस्व बेचकर भी इन लोगों की सेवा करनी होगी। हम जैसे पेड़ों के नीचे रहनेवाले फकीर थे, वैसे ही रहेंगे।"

दार्जिलिंग से लौट रहा था। गाड़ी छूटने से तनिक पहले एक लड़का स्टेशन से हम लोगों के डिब्बे में कूद चढ़ा। सोचा – शायद अनाथ है, इसलिए उसे साथ ला रहा था। सिलीगुड़ी में मालूम पड़ा कि उसके बाप हैं, त्योंही पुलिस को सब बताकर लड़के को वहीं छोड़ आया। इधर दुर्भिक्ष-राहत कार्य के बाद सरकारी गजट में गश्ती चिट्ठी निकली थी कि अनाथ लड़के हम लोगों के पास आ सकते हैं। कलकत्ते आने पर सुना कि उस लड़के के बाप का स्वामीजी के पास तार आया था – "तुम्हारे लोग हमारे लड़के को पकड़ ले गये हैं।" मैं स्वामीजी से मिलने माँ के मकान (बोसपारा का किराये का मकान) गया। उस दिन वहाँ उनके आने की बात थी। भेंट होते ही स्वामीजी थोड़ा हँसे और डाँटते हुए बोले, "अनाथ लड़कों के लिए लार टपक रही है?" मैंने सारी बात विस्तार से ही कही। तब वे बड़े प्रसन्न हुए।

यह घटना सम्भवतः बेलूड़ में हुई थी – एक दिन हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) ध्यान में नहीं गये या जाने में कुछ देर हो गयी। स्वामीजी ने पूछा – "क्यों?" उत्तर में वे बोले – "थोड़ा सर्दी-बुखार जैसा लग रहा है।" पहले तो स्वामीजी जोरों से डाँटते-फटकारते रहे – "अभी तक देह ! छि-छि !" हरि महाराज हम लोगों में सबसे कठोर नियमवाले, तपस्वी और सहिष्णु थे। वह सब सुन वे चुप रहे। बाद में स्वामीजी

स्नेहपूर्वक समझाने लगे, "जानते हो, तुम लोगों को क्यों डाँटता हूँ? तुम लोग ठाकुर की सन्तान हो। तुम्हें देखकर संसार सीखेगा। तुम लोगों में जरा-सी भी कमी देखकर बड़ी पीड़ा होती है। तुम लोगों को थोड़ा-सा भी भिन्न देखने पर वे लोग और भी भिन्नता दिखाएँगे। ठाकुर जैसा कहते थे – मैं सोलह नाच नाचूँ, तो तुम शायद एक नाच नाचो। उसी प्रकार तुम लोग यदि एक नाच नाचो, तो वे लोग एक-सोलहवाँ नाच नाचेंगे। उतना भी यदि न करो, तो वे लोग खड़े कहाँ रहेंगे?"

मठ में एक दिन शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) के साथ चर्चा चलने लगी। पहले-पहल ऐसा लगा था कि हम लोगों का जीवन भी मानो ठाकुर के साथ ही समाप्त हो गया। पर उसके बाद शुरू हुआ साधन-भजन – गुरुभाइयों का मिलकर कभी वराहनगर में, तो कभी पहाड़ों में, निर्जन स्थानों में, तीर्थों में। फिर स्वामीजी को केन्द्रित कर मठ-मिशन यह सब हुआ। **स्वामीजी के चले जाने पर सचमुच ऐसा लगा था कि अब सब कुछ समाप्त हो गया है।** शरत् महाराज बोले – सचमुच, हम लोगों का जीवन उन लोगों के साथ ही चला गया है।

यह सब मानो बाहर का है। ठाकुर की बात, स्वामीजी की बात, साधन-भजन की बात, इन सबकी जितनी 'जुगाली' की जा सके, उतना ही अच्छा, उतना ही आनन्द।

साधुसंग बड़ा जरूरी है। हम लोगों ने क्या कम साधुसंग किया है? जहाँ ज्योंही अवसर मिला – किया है। साधुसंग नहीं होने से कुछ नहीं होता। **तुलसी इस संसार में पाँच रतन हैं सार। साधुसंग औ हरिकथा दया दीन-उपकार।** स्वामीजी कहते थे – 'साधुसंग से ही हरि-चर्चा, भगवच्चर्चा होती है; दया, दीनता, उपकार यह सब होता है। साधुसंग से ही सब होता है।' साधुसंग से धर्मभाव जागता है। संसार में तो सब सुख-भोग की वासना के रस में भीगा पड़ा है। कैसे जलेगा? थोड़ा तपा लेना होगा। हाँ, यदि चकमक पत्थर हो, तो बात अलग है। हजार बरस पानी में डूबा रहे, तो भी निकालकर घिसोगे, तो जल उठेगा। ऐसा कौन है? कितने होंगे?"

स्वामीजी कहते थे – "(पत्थर के) कोयले पर पका भोजन खाने से अम्ल-पित्त होता है; उसमें पानी खौल तो जल्दी जाता है, पर चीजें ठीक पकती नहीं हैं। लकड़ी में पकाया खाने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, जरा आदिवासियों और संथालों को देखो न! कण्डे की आँच में बना भोजन सहज ही हजम हो जाता है, क्योंकि धीरे-धीरे पकता है।" उसका सिद्धान्त था कि कोयले में पकाया नहीं खाऊँगा। सिद्धान्त मानकर चलने के लिए पुरुषार्थ चाहिए। हुआ तो हुआ, नहीं हुआ तो नहीं हुआ – ऐसा करने से नहीं चलेगा। सिद्धान्त के लिए काफी-कुछ त्याग करना पड़ता है।

स्वामीजी का यह जो देशप्रेम है, वह इतना सहज नहीं है। वह देशभक्ति नहीं – वह है देशात्म-बोध। साधारण लोगों में रहता है देहात्म-बोध, इसलिए वे देह की देखभाल में डूबे हुए हैं। सारे देश के भूत, भविष्य और वर्तमान का चिन्तन करना देशात्म-बोध है। पर यहीं पर अन्त नहीं हो जाता। इससे भी ऊपर विश्वात्म-बोध, सबके लिए चिन्ता।"

स्वामीजी की ये बातें हृदय से अनुभव करते हो? – "मेरी कायरता, दुर्बलता दूर करो। माँ, मुझे मनुष्य बना दो" – यह श्रेष्ठ प्रार्थना स्वामीजी ने सिखायी है।

स्वामीजी का कैसा हृदय था! हम लोगों में से किसी में भी उसका एक प्रतिशत भी नहीं है। हम लोग तो उनके गुरुभाई हैं, तो फिर दूसरों की तो बात ही क्या है! देश के दु:ख-कष्टों की बात करते-करते स्वामीजी कैसे हो जाते थे! उस समय मैं उनसे पूछता, "क्यों, देश जाग नहीं रहा है?" उत्तर में वे कहते, "भाई, यह पतित राष्ट्र है! इसका यही लक्षण है।" अहा, स्वामीजी की कोई तुलना नहीं है।

जैसे इस समय तुम्हें (मैक्लाउड) देख रहा हूँ, स्वामीजी के देहत्याग के बाद मैंने उन्हें वैसे ही देखा है, नहीं तो बचता नहीं। उनके वियोग से इतना कष्ट हुआ कि मैं आत्महत्या करने चला था, पर स्वामीजी ने रोक दिया। चलती हुई ट्राम गाड़ी के नीचे कूदने जा रहा था; उन्होंने मुझे पकड़ लिया।

स्वामीजी को देख पाना सहज है, वे दर्शन देने को सर्वदा प्रस्तुत हैं। इस युग के लोग ठाकुर को स्वामीजी के माध्यम से ही समझेंगे। इसलिए देख रहे हो न कि लोग स्वामीजी का भाव ही पहले ले रहे हैं, खूब ले रहे हैं! यह सब सेवा-कार्य, देशप्रेम – इन सबके भीतर से ही जमीन तैयार हो रही है। इसके बाद है आध्यात्मिक कार्य।

मनुष्य का एक लक्षण गाना है। जो गाना नही गा सकता, उसे ठीक पूरा पूरा मनुष्य कहने में स्वामीजी संकोच का अनुभव करते थे। गाना हृदय से निकलता है न!

स्वामीजी अपने अन्तिम दिनों में जीव-जन्तुओं के साथ काफी समय बिताते थे। उनके पास अनेक बतख, कबूतर, कुत्ते, बिल्लियाँ, बकरियाँ आदि थे। उन्होंने मानो विधिवत् एक चिड़ियाखाना बना लिया था। अपनी सेवा के रुपयों में से उनके लिए १०० रुपये व्यय किया करते थे। उनके बतखों में चीनी-बम्बइया तथा जंगली बतखें भी थीं। कुत्तों का नाम था मेरी तथा टाइगर और बकरी के बच्चे का नाम था मटरू और चीनी बतख का उन्होंने नाम रखा था यशोमती। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात यह है कि उनके देहत्याग के साथ-ही-साथ उनके सब पशु-पक्षी मर गये। वे जिसको जो (जानवर) दे गये थे, उनमें से कोई भी ज्यादा दिन बचा नहीं। भक्तगण कहा करते थे – "उन सबका उद्धार हो गया।"

❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(९) धर्म बिना सूना सब व्यवहार

सन्त रैदास मोची थे। वे अपने काम को भगवान की पूजा मानकर मन लगाकर पूरा करते थे। उनका सारा ध्यान भगवन्नाम में लगा रहता। उन्हें ग्राहक जो भी पैसा देते, चुपचाप रख लेते, कभी उस पर असन्तोष नहीं दिखाते। इससे उनके पास जो कोई एक बार भी आता, वह हमेशा के लिए उनका ग्राहक बन जाता था। एक साधु उनकी लगन और भगवद्भक्ति से बड़े प्रभावित थे और जब-तब आकर उनसे बातें किया करते थे।

एक दिन वे साधु रैदास के पास आकर बोले, "सोमवती अमावस्या नजदीक आ रही है। क्यों न उस दिन हम गंगा-स्नान को चलें! रैदास ने जवाब दिया, "गंगा-स्नान करना तो बड़े पुण्य की बात है। पर मेरे पास काम बहुत होने के कारण मेरा वहाँ जाना सम्भव नहीं हो सकेगा। हाँ, आप मेरा एक काम जरूर कर देना। यह एक पैसा लो और इसे मेरे नाम से गंगा मैया को चढ़ा देना।" साधु ने सुना, तो वे मन-ही-मन हँसने लगे। रैदास को वे नाराज भी नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने चुपचाप वह पैसा रख लिया।

प्रयाग जाकर उन्होंने जब स्नान के लिए गंगाजी में डुबकी लगाई, तो उन्हें रैदास की बात याद हो आई। उन्होंने धोती में बँधा वह पैसा निकाला और गंगाजी में डालते हुए कहा, "गंगा मैया ! यह पैसा रैदास ने तुम्हें भेजा है।" उसके ये शब्द पूरे भी नहीं हुए थे कि जलराशि से दो हाथ ऊपर आये और उस पैसे को अपनी हथेली में ले लिया। बाद में वे हाथ पुन: जलराशि में समा गये। साधु यह देखकर चकित रह गये। वे सोचने लगे कि मैं दिन-रात भगवान के भजन-पूजन में लगा रहता हूँ, पर मुझ पर अभी तक भगवान की कृपा नहीं हुई और इस रैदास को देखो ! गंगा मैया की उस पर इतनी कृपा है कि उसके द्वारा स्नान न करने पर भी, केवल उसका नाम लेने पर उन्होंने स्वयं अपने हाथों में पैसे को ग्रहण किया।

वापस आकर साधु ने सन्त रैदास को पूरी बात बताई और फिर कहने लगे, "वहाँ साधुओं की संख्या कम न थी। श्रद्धालु भी बड़ी संख्या में वहाँ आये थे और सबने अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार दान भी किया। पर तुम सांसारिक घर-गृहस्थी की झंझट में लिप्त हो, तो भी गंगा मैया ने तुम्हारा दिया पैसा स्वयं ग्रहण किया। उनकी तुम पर इतनी अनुकम्पा क्यों है?" रैदास ने उत्तर दिया, "भैया, यह सब कर्त्तव्य-धर्म निभाने का फल है। समझ में नहीं आता कि मेरा कोई पुरुषार्थ न होते हुए भी गंगा मैया ने मुझ पर क्यों कृपा की।"

इस पर साधु बोले, "मैं समझ गया। तुम अपना काम तो करते हो, पर तुम्हारा सारा ध्यान ईश्वर के चिन्तन में लगा रहता है। तुम अपना काम धर्म मानकर करते हो, इसी कारण ईश्वर की ओर से तुम्हें उसका ऐसा फल प्राप्त हुआ।"

(१०) लोभाविष्टो न वीक्ष्यते संकटम्

एक बार गुरु मत्स्येन्द्र नाथ अपने शिष्य गोरखनाथ के साथ कामरूप जा रहे थे। रानी मैनावती ने उन्हें सोने की दो ईंटें दीं, जिन्हें उन्होंने अपनी झोली में डाल लिया था। गोरखनाथ को यह बात ज्ञात न थी। मत्स्येन्द्र नाथ मार्ग में रुक-रुककर गोरखनाथ से प्रश्न करते, "बेटा गोरखनाथ, यहाँ हमें कोई डर तो नहीं है?" गोरखनाथ जवाब देते, "डर काहे का? हम फक्कड़ साधु तो निर्बाध रूप से राह चल सकते हैं?" गुरु द्वारा बार-बार यही पूछे जाने पर गोरखनाथ जी ने सोचा कि गुरुदेव तो नि:स्वार्थी, निस्पृह, विरागी और अपरिग्रही हैं, तो भी 'यहाँ कोई डर तो नहीं है?' बार-बार वे ऐसा प्रश्न क्यों कर रहे है?

एक जगह रुककर गुरुदेव एक पेड़ के नीचे विश्राम करने लगे। गोरखनाथ भी उनके पास बैठे। गुरु की आँखें बन्द देख जिज्ञासावश गोरखनाथ जी ने उनकी झोली में हाथ डाला और उसमें वे दो ईंटें मिलीं, तो सारी बात उनकी समझ में आ गई। उन्होंने वे ईंटें पास के ही जलाशय में डाल दीं और झोली में उनके बदले उन्होंने पत्थर के दो बड़े टुकड़े रख दिये।

थोड़ी देर में गुरुदेव की थकान दूर हुई और वे आगे चलने के लिए उठ गये। गोरखनाथ भी उठकर उनके साथ आगे की ओर रवाना हुए। रास्ते में जब गुरुदेव ने गोरखनाथ को प्रश्न किया, "बेटा, यहाँ कोई डर तो नहीं है?" तो गोरखनाथ ने कहा, "गुरुदेव, अब डर की कोई बात नहीं, डर तो बहुत पीछे रह गया है।" उत्तर सुनकर मत्स्येन्द्र नाथ हँसने लगे।

गोरखनाथ जी के ध्यान में यह बात आ गई थी कि वीतरागी व्यक्ति को सर्वदा धन-सम्पत्ति से दूर रहना चाहिए। फिर सोचने लगे कि साधु-सन्तों की ही क्यों, आम आदमी को भी लोभ-मोह से बचना चाहिए, अन्यथा वह कभी सुख-चैन से नहीं रह सकता। सुखी जीवन बिताने के लिए मनुष्य को लोभ, मोह, माया आदि से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। तभी वह निर्भय होकर अपना पूरा जीवन बिता सकता है। ❖ (क्रमश:) ❖

माँ की अहैतुक कृपा

मनोरंजन चौधरी

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

आज से लगभग ६० वर्ष पहले की बात है। स्कूल में अवकाश होने के कारण छुट्टियाँ बिताने के लिए मैं अपने मित्र के घर गया था। कुछ ही वर्ष पूर्व (१९०२ ई. में) स्वामीजी ने देहत्याग किया था। मेरे मित्र ने मेरे हाथों में एक पुस्तक थमा दी। देखा – पुस्तक थी श्री 'म' द्वारा लिखित 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' का प्रथम भाग। उस पुस्तक को तत्काल पढ़कर अपने मित्र को लौटाते हुए मैंने कहा – "अद्भुत पुस्तक है।" मैं नोआखाली जिले के नोआखोला गाँव (जो अब बंगलादेश में है) के अपने घर लौट गया। इसके बाद खाने-पीने, घूमने तथा पढ़ने-लिखने में मेरे कुछ दिन बीते। फिर मेरी शादी हुई और नौकरी भी मिली। नौकरी के सिलसिले में पहले मैं चटगाँव और बाद में काक्स बाजार गया। वहाँ सारी रात जप-ध्यान करता और दिन में १० से ५ बजे तक दफ्तर में रहता।

काक्स बाजार में निर्जन समुद्र-तट था। कभी-कभी मैं निर्जन पहाड़ की घाटियों में घूमता। रात में घर लौटने के बाद खा-पीकर सो जाता। स्वप्न में अनेक साधु-संन्यासियों को देखता। एक दिन मैंने स्वप्न में देखा समुद्र के किनारे अत्यन्त तन्मय अवस्था में हूँ। कुछ देर बाद देखा – सभी ओर आलोक फैल गया है और बीच में श्रीरामकृष्ण-रूपी नारायण हैं। चारों ओर से ऋषि-मुनि-गण उनकी स्तुति कर रहे है। तभी भोजन के लिए बुलावा आ गया, पर जाऊँ कैसे? मुझे तो अपने पैर का ही बोध नहीं हो पा रहा था। आखिर में दबाते-दबाते पैर का बोध हुआ।

इसके बाद और भी कुछ दिन अच्छी तरह बीते। केवल यही चिन्ता रहती कि दफ्तर का काम कैसे जल्दी निपटाऊँ और पहाड़ में या समुद्र के किनारे जाऊँ। मैं माँ-काली का भक्त था। यही चिन्ता मन को व्याकुल किये रहती थी कि कब माँ को देखूँगा, कब उनका दर्शन होगा! उनके स्मरण-मनन में मुझे खूब आनन्द मिलता। इतना आनन्द कि मन में मानो अँटता ही न था। और कभी नेत्रों से अविराम अश्रु बहने लगते, जो थमने का नाम ही नहीं लेते। परन्तु तब भी क्या पानी में डूब रहे व्यक्ति के समान मेरे प्राणों में व्याकुलता आ सकी थी? ऐसा हो, तभी तो माँ के दर्शन होंगे। निर्जन में व्याकुल होकर रोने पर वे दया करती हैं, दर्शन देती हैं। तो लगता है मुझमें व्याकुलता नहीं है, लगता है मैंने रोना नहीं सीखा? ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा जीवन ही व्यर्थ है।

एक दिन मैं कलकत्ते गया। उसके बाद दक्षिणेश्वर होते हुए बेलूड़ मठ भी गया। वहाँ स्वामी विवेकानन्द जी के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञान महाराज से भेंट हुई। उन्होंने पूछा – "ध्यान करोगे?" मैंने कहा – हाँ, महाराज!" उन्होंने स्वामीजी के समाधि-मन्दिर के पास लगे बिल्व-वृक्ष की ओर संकेत किया। मैं वहाँ जाकर बैठा और थोड़ी देर ध्यान करने के बाद उठ गया। ज्ञान महाराज ने मुझे अपने साथ ले जाकर पूरा बेलूड़ मठ दिखाया। अगले दिन सुबह मैं फिर मठ में गया। ज्ञान महाराज बोले – "मास्टर महाशय से तुम्हारा परिचय है क्या?" मैंने कहा – "नहीं, महाराज।" एक युवा ब्रह्मचारी नाव से कलकत्ते जा रहे थे। महाराज ने उन्हें बुलाकर कहा – "इसे अपने साथ लेते जाओ। मास्टर महाशय का घर दिखा देना।" हम लोग नाव पर बैठे। उसके बाद बागबाजार में नाव से उतरने पर ब्रह्मचारी जी मुझे मास्टर महाशय के घर ले गये। उनके घर जाकर मैं डरते-डरते उनके चरणों में बैठ गया। मुसलमान लोग जैसे नमाज पढ़ने बैठते हैं, श्रीम ठीक उसी मुद्रा में एक छोटी चौकी पर बैठे थे। मेरी सारी बातें सुनने के बाद वे बोले – "मैं दिव्य नेत्रों से देख रहा हूँ कि माँ हाथ उठाकर तुम्हें बुला रही हैं।" उन्होंने अधिक कुछ नहीं कहा। पर वे सदा हँसमुख थे। हलके-हलके मुस्कुरा रहे थे और मेरी ओर देख रहे थे। बोले – "माँ जयरामबाटी में है।" उन्होंने यह भी बता दिया कि वहाँ किस प्रकार जाना होगा।

अगले दिन सुबह की ट्रेन से मैं विष्णुपुर गया। ट्रेन से उतरकर होटल में भोजन करने के बाद सुरेश्वर सेन के घर गया। घर में घुसते ही देखा सुरेश्वर बाबू पुष्पोद्यान में बेला के पौधों की गुड़ाई कर रहे हैं। माँ के घर जा रहा हूँ – यह जानकर उन्होंने रात में मुझे बड़े प्रेम से खिलाया। रात के दस बजे उन्होंने बैलगाड़ी का प्रबन्ध कर दिया। बैलगाड़ी रात भर चलती रही। सुबह सात बजे मैं कोआलपाड़ा के आश्रम

में पहुँचा। ब्रह्मचारी लोगों ने बड़ा प्रेमपूर्ण व्यवहार किया। वही नहाना-खाना हुआ। फिर जयरामबाटी के लिए रवाना हुआ। शाम को माँ के घर पहुँचा। आँगन में माँ को देखते ही मैं उनके चरणों में लोट गया। आँखों से आँसू थम ही नहीं रहे थे। इसी दशा में – "ब्रह्ममयी, ब्रह्ममयी, कृपा करो, कृपा करो" – कहते हुए माँ के चरणों में मैंने अविरल आँसू बहाये। माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा – "कृपा के पात्र तो हो ही।" माँ ने मुझे मुरमुरे, बेगुनी[१] तथा जलेबियाँ खाने को दिये। संध्या हो गयी थी।

आनन्द-ही-आनन्द ! मानो आनन्द की हाट लगी हो। जैसे मछलियाँ पानी में आनन्दपूर्वक तैरती फिरती हैं, वैसे ही मेरी भी आनन्द में डूब जाने की इच्छा हो रही थी। जिधर भी निगाह जाती, आनन्द के सिवा अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता। नेत्रों को मानो पीलिया हो गया हो। माँ की भाषा में मानो 'आनन्द का घट भर गया' हो। मेरे चारों ओर भी सब कुछ आनन्दमय हो उठा था। रात में भरपेट खाकर सोया।

खूब सबेरे प्रात:कृत्य तथा हाथ-मुँह धोने के लिए मकान से बाहर निकला। माँ का जप-ध्यान उसके पहले ही समाप्त हो जाता था। बाद में सुना था, किसी ब्रह्मचारी से उन्होंने कहा था – "चटगाँव से पिछली शाम जो लड़का आया है, उसे जगा दे।" ब्रह्मचारी मुझे कमरे में न पाकर माँ से बोले – "कोई दिखाई तो नहीं दे रहा है।" माँ ने फिर कहा – "फिर से खोज। मैं उसकी प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

इधर मैं ऐसे ही घूमते-घूमते सहसा भानुबुआ के घर जा पहुँचा था। बुआ एक सितुही से दूध की कढ़ाई खरोच रही थीं। उन्होंने उस खुरचन से एक लड्डू बनाया था। मेरे आते ही वे बोलीं – "गोपाल, पनीर खाओगे?" मैंने तत्काल घुटने के बल बैठकर हाथ फैलाकर लड्डू को ले लिया और आनन्दमग्न होकर खाने लगा। बुआ बोलीं – "कैसा अनुराग-बाघ ने पकड़ा है।" ज्ञानी व्यक्ति थीं, देखते ही अवस्था समझ गयीं।

ठीक तभी ब्रह्मचारी हरिप्रेम महाराज आकर बोले – "आप यहाँ हैं? माँ आपको खोज रही हैं।" हाथ का लड्डू मुँह में भरकर मैं तत्काल भागा। जाकर देखा, माँ पूजा निपटा कर प्रतीक्षा कर रही हैं। मेरे जाते ही बोलीं – "दीक्षा लोगे?" मैंने कहा – "माँ, मैं कुछ नहीं जानता। सब तुम्हारी इच्छा।" "जाओ, स्नान कर आओ" – कहकर माँ ने दाहिनी ओर – अपनी कुटियां के पूर्व ओर के तालाब की ओर इशारा किया। मैं जल्दी से तालाब में डुबकी लगाकर माँ के पास आकर हाजिर हो गया। श्री 'म' ने मुझे बता दिया था – "माँ के लिए लाल किनारी की एक साड़ी, एक रुपया और कुछ गुड़हल के फूल लेते जाना।" और मैं ले गया था। स्नान के बाद वह सब मैंने माँ को दिया। माँ ने मुझे दीक्षा दी। अपनी उँगली पर जप करके कर-जप करना सिखाया। ठाकुर के चित्र की ओर इंगित करके बोलीं – "ये ही तुम्हारे इष्ट हैं।" दीक्षा के बाद माँ को प्रणाम करके उठते समय मैंने स्पष्ट देखा – वहाँ माँ नहीं, उनकी जगह स्वयं माँ-काली बैठी हैं। मैं अचेत होकर पुन: उनके चरणों में लोट गया।

मेरे बाद और भी एक व्यक्ति की दीक्षा हुई। उन्होंने माँ से पूछा था – "माँ, क्या ये घर छोड़ संन्यासी होकर निकल जायेंगे?" उत्तर में माँ ने बताया था – "नहीं, उसका थोड़ा-सा भोग बाकी रह गया है।"

आनन्द ! आनन्द ! आनन्द ! उस रात भी मुझे माँ के घर में रहने का सौभाग्य मिला। अगले दिन सुबह खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द जी) कामारपुकुर जा रहे थे। मैंने माँ से पूछा – "खोका महाराज के साथ जाऊँ?" माँ से अनुमति पाते ही मैं खोका महाराज के साथ चल दिया। कामारपुकुर में मैंने रामलाल दादा और लक्ष्मी दीदी को देखा। खाने-पीने के बाद रामलाल दादा से ठाकुर और माँ के बारे में थोड़ी बातें सुनकर मैं माँ के घर लौट आया। इसी प्रसंग में यह भी बता दूँ कि बाद में भुवनेश्वर के मठ में राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) के दर्शन और संग का सौभाग्य भी मुझे मिला था।

तत्पश्चात् मेरी वैसे ही पूर्ववत् जीवन-धारा चलती रही। काफी काल बाद एक दिन मैंने 'अमृतबाजार-पत्रिका' (समाचार-पत्र) में देखा – माँ ने देहत्याग कर दिया है। मैंने ग्यारह दिनों तक अशौच का पालन किया। बारहवें दिन खूब सबेरे एक ब्राह्मण को थाली, कटोरी, घड़ा आदि दान किया। फिर श्रीठाकुर को भोग देकर सबको प्रसाद वितरण किया। मानी हुई नहीं, वे अपनी निज की माँ जो थी, जन्म-जन्मान्तर की माँ जो थी, इसलिए तो यह सब किया।

इसके बाद बहुत वर्ष बीत गये। आज देखता हूँ – मर्त्य शरीर में विद्यमान न रहने पर भी, माँ मेरे पास हैं और मेरे जीवन में दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक जीवन्त होती जा रही हैं।

(मनोरंजन चौधरी के जमाता परितोष मजुमदार द्वारा लिपिबद्ध और उद्बोधन, वर्ष ९५, अंक ९ में प्रकाशित। – सं.)

१. बंगाल का एक व्यंजन। इसके लिए बैंगन को कतलियों के रूप में काटकर तलने के बाद उसमें नमक-मिर्च लगा देते हैं। – सं.

❖ (क्रमश:) ❖

आप भी महान बन सकते हैं (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

सन्त गजानन महाराज अभियांत्रिक महाविद्यालय, शेगाँव (महाराष्ट्र) ने जुलाई १९९५ में अपने छात्रों के लिये 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर में द्विदिवसीय कार्यशाला आयोजित की थी। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने वहाँ जो व्याख्यान दिया, उसे उक्त विद्यालय ने 'You Can Be A Better Person' नाम से छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया था, जो युवक-युवतियों में बड़ी लोकप्रिय हुई। हिन्दी भाषी युवक-युवतियों को भी यह सुलभ हो सके, इसलिये इसी आश्रम के अन्तेवासी स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

अच्छी नियमित आदतें

१. भोजन की आदत

हमारी बीमारी और शरीर के स्वस्थ नहीं रहने का बहुत से कारणों में से एक कारण है – अति-भोजन करना, पेटू होना। वह व्यक्ति जो उत्कृष्ट होना चाहता है, महान बनना चाहता है, उसे अवश्य ही पेटू नहीं होना चाहिए। सावधान रहें तथा अपनी जीभ के दास न बनें। प्रिय मित्रो, हम 'जीने के लिए खायें, खाने के लिए न जीयें'। इस स्वर्णिम नियम को ठीक-ठीक और कड़ाई से पालन करें।

२. व्यायाम की आदत

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति ने मानव-शरीर का निर्माण कठोर-श्रम करने के लिए किया है। शरीर वह उपकरण है जिसके द्वारा जीवन में जो कुछ भी श्रेष्ठ और उदात्त है, शुभ और सुन्दर है, उसे प्राप्त कर सकते हैं। जब तक हम शरीर को स्वस्थ एवं कार्यक्षम नहीं रखेंगे, तब तक हम अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि बिना नियमित शारीरिक व्यायाम के शरीर को स्वस्थ नहीं रखा जा सकता है।

इसलिए जो भी विद्यार्थी, लड़का या लड़की श्रेष्ठ व महान व्यक्ति बनना चाहते हैं, उन्हें नियमित व्यायाम करना चाहिए और भोजन की मात्रा में ध्यान देना चाहिए। किसी भी व्यायाम-शाला में जाकर या अपने शारीरिक-व्यायाम-अधीक्षक से मिलकर और जिससे शरीर स्वस्थ एवं चुस्त रहे, वैसे वैज्ञानिक व्यायाम सीख लें। यह भी याद रखें कि व्यायाम की आदत किसी भी स्थिति में गौण न हो जाय, या यह उपेक्षणीय नहीं है।

३. निद्रा और विश्राम की आदत

विश्राम और निद्रा प्रकृति की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वह शरीर की क्षतिपूर्ति करती है एवं शरीर के विनष्ट कोषों का तथा अन्य तन्तुओं आदि का निर्माण करती है। अत: हम प्रकृति की इस प्रक्रिया में बाधा न डालें एवं अपने स्वास्थ्य एवं जीवन को खतरे में न डालें। अत: प्रकृति के इस कार्य में सहायक हों तथा अपने शरीर को स्वस्थ, पटु एवं कार्यक्षम रखें।

हम सभी को कठिन परिश्रम करने के लिए ऊर्जा और शक्ति की आवश्यकता होती है। और हम सभी जानते हैं कि बिना कठिन परिश्रम के जीवन में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकती। निद्रा और विश्राम ऊर्जा और शक्ति के अच्छे संरक्षक हैं। प्रत्येक विद्यार्थी जो स्वयं को महान बनाना चाहता है, उसे ऊर्जा और शक्ति का संरक्षण अवश्य ही करना चाहिए, जिससे वह इसका उपयोग आत्म-विकास एवं सर्वतोमुखी कल्याण के लिए कर सके।

अच्छा, मैं ऐसा क्यों कह रहा हूँ? इसलिए कि बहुत से हमारे युवा विद्यार्थी यह सोचते हैं कि २४ घंटे के समय में अध्ययन और अन्य आवश्यक कार्यों के लिए एकमात्र सटीक समय निद्रा और विश्राम का समय ही है।

जब हम उन लोगों की दैनिक दिनचर्या देखते हैं, तो पाते हैं कि जब वे जागते रहते हैं और उनके पास पर्याप्त समय और ऊर्जा रहती है, तब वे अपना समय सृजनहीन व्यर्थ के कार्यों, गप मारने, निरुद्देश्य भ्रमण एवं क्षुद्र मनोरंजन आदि में नष्ट कर देते हैं। जबकि रात में अध्ययन करने की योजना निद्रा और विश्राम के अमूल्य समय में बाधा पहुँचाती है।

एक श्रेष्ठ व्यक्ति बनने के लिए, महान व्यक्ति बनने के लिए हमें अपने अवकाश के क्षणों का, जब हम जगते रहते हैं, उसका सदुपयोग करना सीखना चाहिए; और निद्रा तथा विश्राम के समय में बाधा नहीं पहुँचाना चाहिए।

हमारे व्यक्तित्व के अदृश्य आयाम

हमारा मन

अब तक हम लोग अपने व्यक्तित्व के उस भाग पर चर्चा कर रहे थे, जिसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

क्या आप मुझे बता सकते हैं कि हमारे व्यक्तित्व के अदृश्य आयाम क्या हैं?

यह अदृश्य हो सकता है, किन्तु अवश्य अनुभवगम्य है। हम इसे भले ही न देख सकें, किन्तु इसका अनुभव अवश्य करते हैं। हम सभी यह अनुभव करते हैं कि हमारे अन्दर एक ऐसा तत्त्व है, जो बहुत शक्तिशाली और क्षुब्ध है। वह है हमारा मन।

प्राचीन काल से ही संसार के सभी महान चिन्तकों, दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों ने इस चञ्चल तत्त्व मन पर विचार किया है। उन्होंने पाया कि जीवन में सफलता इसी चञ्चल और क्षुब्ध मन के सुसंचालन पर ही निर्भर है। यदि

हम संसार के महान पुरुषों के जीवन का निरीक्षण करें, तो पायेंगे कि एक चीज सबमें सामान्य थी और वह यह कि वे सभी अपने मन के स्वामी थे। उनका अपने मन पर पूरा नियंत्रण था। अर्थात् वे जहाँ इस मन का उपयोग करना चाहते थे, वे जहाँ इस मन को लगाना चाहते थे, लगा लेते थे और जहाँ से हटाना चाहते थे, वहाँ से हटा भी लेते थे।

लेकिन अपने साधारण जीवन में हम पाते हैं कि हममें से अधिकांश लोगों का अपने मन पर नियंत्रण प्राय: नहीं है। विश्व के सभी महापुरुष एक स्वर में कहते हैं कि जीवन में सफलता का रहस्य मन पर नियंत्रण करने की शक्ति पर ही निर्भर है।

मन – अर्थात् विचार

मन पर लोगों ने बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं। इसका क्या अर्थ है? यह कैसे कार्य करता है? इत्यादि। लेकिन सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये हम जानते हैं कि हमारा विचार ही हमारा मन है। विचार ही हमारे जीवन-भवन के निर्माण की सामग्री है। हमारे विचार निर्धारित करते हैं कि हम वर्तमान में क्या हैं और भविष्य में क्या होंगे। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, 'जो तुम सोचते हो, वही हो जाते हो।' हम कह सकते हैं कि हमारा जीवन हमारे विचारों का ही मूर्त-स्वरूप है।

इसका तात्पर्य है कि यदि हम अपने विचारों में परिवर्तन लायेंगे तो हमारा जीवन भी बदल जायेगा। यही जीवन का शाश्वत नियम है। मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि हमारे मन के दो भाग हैं – (१) चेतन मन (२) अवचेतन मन।

वे लोग कहते हैं कि हमारा मन समुद्र में तैरती एक बर्फ की शिला के समान है। तैरती हुई बर्फ की शिला के दश भागों में से केवल एक भाग ही दृष्टिगोचर होती है और इसका नौ भाग समुद्र के जल के भीतर रहता है। अर्थात् एक भाग ही ऊपर रहता है। उसी तरह हमारे मन का अधिकांश भाग जो अवचेतन है, हमारे चेतन मन के नीचे छिपा रहता है। उसका मात्र अल्पांश ही हमें ज्ञात है। वही हमारा चेतन मन है।

इसमें एक बड़ा रहस्य है, वह यह है कि यह चेतन मन का अल्पांश ही हमारे सम्पूर्ण अवचेतन मन को नियन्त्रित कर सकता है और मोड़ सकता है। संसार के सभी सन्तों ने इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है।

वे कहते हैं कि जब हम बहुत देर तक एकाग्रता और तीव्रता से लगातार जो कुछ सोचते हैं, वह हमारे अवचेतन मन में प्रवेश करता है तथा आवश्यक परिवर्तन लाता है। हमारा अवचेतन मन जो ग्रहण करता है, उसे हम अनुभव करते हैं और हम जो अनुभव करते हैं, वही बन जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व भी वैसा ही बन जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि यदि तुम बुद्ध के समान हार्दिक संवेदना की अनुभूति करो, तो तुम बुद्ध हो जाओगे। यदि ईसा मसीह के समान अनुभव करो, तो तुम ईसा मसीह बन जाओगे।

इस प्रकार हमारे विचार हमारे जीवन का विनाश या निर्माण करते हैं। हमारा मन ही हमारा सबसे बड़ा मित्र और सबसे बड़ा शत्रु भी है – आत्मा एव ही आत्मन: बन्धु आत्मा एव रिपु: आत्मन: (गीता-६/५)। यही हमारे बन्धन और मुक्ति का कारण भी है – मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।

अन्त:करण

अब समस्या यह है कि अपने मन या विचारों को कैसे नियंत्रित करें? हिन्दू ऋषि-मुनियों ने अपने अन्तरतम में प्रवेश किया तथा उन्होंने अपनी आत्मा में गहरी डुबकी लगाकर मानव के मन और आत्मसत्ता के रहस्य को ढूँढ़ लिया। उन्होंने कहा कि मनुष्य के भीतर एक अन्त:करण है। इसकी विविध वृत्तियाँ तथा क्रिया-कलाप हैं। जैसे – (१) मन (२) बुद्धि (३) अहंकार आदि।

इस अन्तर्यन्त्र को चित्त या अन्त:करण कहते हैं। अपने मन को नियंत्रित करने के लिए इस चित्त या अन्त:करण की वृत्तियों, क्रिया-कलापों को जानना बहुत आवश्यक है।

(१) मन – चित्त की अस्थिरता, अनिश्चितता की अवस्था को मन कहते हैं। मान लें, हल्का धुँधला प्रकाश है और कोई व्यक्ति दूर से आ रहा है। मैं उसे देखकर पहचानने में असमर्थ हूँ कि वह मेरा मित्र हरि है या राम। मैं अनिश्चय की, अनिर्णय की अवस्था में हूँ। चित्त की इस संकल्प-विकल्पात्मक अवस्था को मन कहते हैं।

(२) बुद्धि – चित्त की निश्चित, स्थिर अवस्था को बुद्धि कहते हैं। व्यक्ति जब समीप आता है और मैं पहचान लेता हूँ कि यह मेरा मित्र हरि है। अब मैं इस सम्बन्ध में निश्चित हूँ। चित्त की इसी निश्चित अवस्था को बुद्धि कहते हैं।

(३) अहंकार – अब मैं अनुभव करता हूँ कि वह मेरा मित्र है और मैं उसका मित्र हूँ। इस 'मैं-मेरा' के बोध को अहंकार कहते हैं।

चित्त वह तत्त्व है, जिसमें उपरोक्त तीनों अवस्थाओं की विभिन्न वृत्तियाँ उठती-मिटती रहती हैं। हम कह सकते हैं कि चित्त इन तीनों वृत्तियों, क्रियाओं का मूल आधार है।

अब हम कह सकते हैं कि हमारा व्यक्तित्व निम्नलिखित तत्त्वों का समन्वित रूप है – (१) शरीर (२) मन (३) बुद्धि (४) अहंकार (५) आत्म-चैतन्य

यह आत्मा या चेतना हमारे व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अदृश्य भाग है। सामान्य जीवन में हम कभी भी आत्मा के बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं। इसीलिए हममें से लाखों लोग दुखी हैं और कष्ट भोग रहे हैं। संसार में मात्र वे ही लोग सुखी हैं, जो इस रहस्य को जानते हैं और जिनका स्वयं पर नियंत्रण है।

❖ (क्रमश:) ❖

अलवर राज्य में एकाकी प्रवेश

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों के संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

स्वामीजी उन दिनों अपने जीवन की उद्देश्य-सिद्धि के लिए बड़े व्याकुल थे। सम्भवत: उन्हें ज्ञात था कि उनके जीवन का शुभ काल आ पहुँचा है और तैयारी के लिए समय कम ही बचा है। उस विराट् अज्ञात कार्य के लिए उनके हृदय-देवता श्रीरामकृष्ण ने अब उन्हें अकिंचन एकाकी भ्रमण करने को अनुप्राणित किया; और स्वामीजी ने भी अपने प्रिय गुरुभाइयों के अन्तिम बन्धन से मुक्ति पाकर मानो चैन की साँस ली। अब वे स्वाधीन, मुक्त और स्वच्छन्द-विहारी थे। उन्हें भगवान बुद्ध की ये उक्तियाँ स्मरण हो आयी –

जैसे सिंह किसी आवाज से भयभीत नहीं होता,
जैसे वायु जाल में नहीं फँसती,
जैसे पद्मपत्र जल से अलिप्त रह जाता है,
वैसे ही तुम भी निर्भय
गैंडे की भाँति एकाकी विचरण करो ।।
बिना किसी भय के,
सब कुछ से उदासीन,
बिना किसी निर्दिष्ट पथ के,
बेपरवाह, बढ़े चलो ।
गैंडे की भाँति एकाकी विचरण करो ।।[1]

इन शब्दों से अनुप्राणित, दण्ड-कमण्डलु-धारी परिव्राजक संन्यासी स्वामीजी, सारे सम्बन्धों को त्यागकर, समस्त बन्धनों को काटकर, सारी सीमाओं तथा भय के सारे भावों को नकारकर, हृदय में एकाकी विचरण करने की आकांक्षा लिए हुए उत्तरी भारत को पीछे छोड़ गैंडे की भाँति एकाकी ही राजपुताने की ओर अग्रसर हुए।

अज्ञातवास की गाथा

राजपुताना! इतिहास की क्रीड़ाभूमि, सौन्दर्य की लीलाभूमि, प्राचीन सरस्वती नदी तथा वैदिक ऋषियों की पुण्यभूमि, पुष्कर आदि तीर्थों और पृथ्वीराज चौहान तथा महाराणा प्रताप जैसे रणबाँकुरों की वीरभूमि! मीरा जैसी ईश्वर-प्रेम में दीवानी सन्तों की धर्मभूमि! पद्मिनी जैसी वीरांगनाओं तथा सतियों के तेज से दीप्त धन्यभूमि! इस भूमि के स्मरण मात्र से ही मन में कितने ही विविध प्रकार के भावों का स्फुरण होने लगता है। एक के बाद एक, न जाने कितने वीर राजपूत राजाओं ने इस पर शासन किया और खून की आखिरी बूँद रहते पराजय को अंगीकार नहीं किया। गुरुभाइयों के प्रेम से छुटकारा पाने के बाद अब स्वामीजी ने इसी महान् भूमि – राजपुताने में प्रवेश किया।

इस प्रकार १८९१ ई. के प्रारम्भ से उनका अज्ञातवास शुरू हुआ। तब से उनका अपने गुरुभाइयों से जो साथ छूटा, तो फिर करीब ६ वर्षों बाद १८९७ के प्रारम्भ में अमेरिका से लौटने के बाद ही उनका गुरुभाइयों के साथ मिलन तथा एक साथ निवास हुआ था। उनके मना करने पर भी अखण्डानन्द जी ने उनका पीछा किया था और केवल यदा-कदा उनसे मिले भी थे, इसके अतिरिक्त उनकी स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के साथ एक बार तथा स्वामी अभेदानन्द के साथ दो-तीन बार भेंट हुई थी। पर इन्हें अपवाद ही कहना होगा। अखण्डानन्द जी उनकी खोज करते हुए राजस्थान तथा गुजरात में कहीं पहुँचते, तो सुनते कि स्वामीजी कुछ दिनों पूर्व ही वहाँ से आगे निकल गये हैं। इसी प्रकार उन्हें स्वामीजी के इस समय के भ्रमण की कुछ घटनाओं की जानकारी मिली। बाद में स्वामीजी ने भी अपने गुरुभाइयों को अपने इस काल की कुछ घटनाएँ सुनायी थीं। इन दिनों स्वामीजी की जिन लोगों से भेंट हुई, उनमें से भी किसी किसी ने बाद में अपने भेंट तथा वार्तालाप का विवरण बताया या लिपिबद्ध किया था। मुख्यत: यही सामग्री स्वामीजी के इस भ्रमण तथा अज्ञातवास पर्व के विवरण का मूल आधार है।

स्वामीजी के राजस्थान-प्रवास (फरवरी-दिसम्बर १८९१ ई.) का विश्लेषण करने पर एक बात खास तौर पर ध्यान में आती है कि अन्य प्रदेशों की तुलना में राजस्थान के अधिकांश स्थानों में उनका निवास काफी लम्बा हुआ। मोटे तौर पर इसका एक आनुमानिक खाका इस प्रकार है –

---

१. सीहो'व सद्देसु असन्तसन्तो, वातो'व जालम्हि असज्जमानो।
पदुमं'व तोयेन अलिप्पमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥
चातुद्दिसो अप्पटिघो च होति, सन्तुस्समानो इतरीतरेन।
परिस्सयानं सहिता अछम्भी, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥
सुत्तनिपात, ३/३७, ८

देखिये – The Master as I saw Him, Nivedita, Ed 1972, p. 73

अलवर – लगभग ७ सप्ताह (७ फरवरी से ३१ मार्च)
जयपुर – लगभग २ सप्ताह (१ से १४ अप्रैल)
किशनगढ़-अजमेर-पुष्कर – लगभग १ सप्ताह (१४ से २७ अप्रैल)
आबू पहाड़ – लगभग ११ सप्ताह (२८ अप्रैल से २४ जुलाई)
जयपुर – लगभग १ सप्ताह (२६ जुलाई से ३ अगस्त)
खेतड़ी – लगभग ११ सप्ताह (७ अगस्त से २७ अक्तूबर)
जयपुर-अजमेर – लगभग ६ सप्ताह (१ नवम्बर से १५ दिसम्बर)

पहला पड़ाव – अलवर में

१८९१ ई. के फरवरी माह के प्रारम्भ में एक दिन प्रभात के समय स्वामी विवेकानन्द जी अलवर स्टेशन पर उतरे। दिल्ली से रेलमार्ग पर ५७ मील दूर स्थित राजस्थान की अलवर नगरी अत्यन्त सुन्दर है। पहाड़ियों से घिरी घाटी में बसी इस नगरी में अनेक महल, मन्दिर तथा स्मारक विद्यमान हैं। लगभग हजार फीट की ऊँचाई पर एक किला बना हुआ है। अलवर एक आधुनिक राज्य था; तब से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जब सम्राट् का बल-वैभव क्षीण हो रहा था, उन्हीं दिनों जयपुर में विख्यात् मानसिंह के वंश में जन्मे प्रतापसिंह नामक एक राजपूत ने बिना प्रयास ही इस राज्य की स्थापना की थी।

रेलवे स्टेशन के पश्चिम में अलवर नगर स्थित है, और भी पश्चिम में पर्वत-श्रेणियाँ हैं तथा चारों दिशाओं में छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं। सूर्योदय के पूर्व से ही चारों दिशाएँ मोरों की केका-ध्वनि से गूँज रही थीं; मार्ग में मैदान में, वृक्षों पर, अट्टालिकाओं के छत तथा प्रागंण में वे दिशाओं को आलोकित करते हुए, पथिकों एवं असहाय निराशापूर्ण कृषकों के हृदय में प्राणदायी आशाबीज के रोपणार्थ बीच-बीच में मानो आनन्द-पूर्वक उनके आस-पास नृत्य कर रहे थे और हठपूर्वक 'न्याओ-न्याओ' कहकर चीत्कार कर रहे थे। वे मानो भारत के भावी गौरव की अनुभूति कर आनन्द-विभोर हो रहे थे और गरीबों को भी उसी आनन्द में भागीदार बनाने के लिए मानो उनके साथ इतनी घनिष्ठता दिखा रहे थे।

रामसनेही तथा वृद्धा का आतिथ्य

ऐसा प्रतीत होता है कि अलवर पहुँचकर स्वामीजी सर्व-प्रथम वहाँ के दो अत्यन्त निर्धन तथा निम्न वर्ग के लोगों के साथ ठहरे। इस विषय में स्वामीजी के भ्राता महेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं – "परिव्राजक अवस्था में जब नरेन्द्रनाथ अलवर गये थे, उस समय की घटना रामसनेही के मुख से गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) ने सुनी थी। रामसनेही एक उत्तर भारतीय रमता वैष्णव थे। उनके पास अनेकों बार टाँके लगवाकर मरम्मत कराया हुआ एक पुराना घड़ा और एक छोटा-सा लोढ़ा (पत्थर) था। राम-सनाइया को आनन्द होने पर वे उस लोढ़े से घड़े को बजाकर भजन गाते। वे माधुकरी करके थोड़ा-सा आटा लाते और उसके साथ जरा-सा नमक-मिर्च डालकर सान लेते और धूनी जलाकर टिक्कड़ बनाते। इस काल में नरेन्द्रनाथ ने राम-सनाइया के साथ इन टिक्कड़ों तथा पानी से पेट भरकर कुछ दिन बिताये थे। रामसनेही कहीं से थोड़ा-से कटे हुए तम्बाकू माँग लाते और दोनों मिलकर आनन्दपूर्वक धुम्रपान करते। इसके साथ ही वे घड़ा बजाकर भजन गाते। अनाहार, दु:ख-क्लेश और आनन्द वहाँ एक साथ विराजती। नरेन्द्रनाथ ने एक बार गुप्त महाराज से रहा था – 'अरे, राम-सनेही के साथ जितने दिन रहा, दिन बड़े आनन्द में बीतते थे। जगत् की ओर ध्यान ही नहीं देता था, शरीर को तुच्छ समझता था। रामसनेही बड़े सरल हृदय का व्यक्ति था, निश्छल भाव से मुझसे प्रेम करता था।'

"अलवर में किसी ने भी नरेन्द्रनाथ के लिए विशेष सेवा या भोजन की व्यवस्था नहीं की थी। एक वृद्धा महिला अनेक घरों में चक्की पीसकर पारिश्रमिक के रूप में थोड़ा-सा आटा पाती थी। वृद्धा उस आटे से रोटियाँ बनाकर खाती। उसी में से उसने नरेन्द्रनाथ को भी खिलाया था। वृद्धा नरेन्द्रनाथ को 'लाला' या 'बच्चा' कहकर सम्बोधित करती थी। परिव्रज्या के दिनों में जब उन्हें कहीं से अन्न नहीं मिलता, तब इन्हीं वृद्धा ने स्वामीजी को अपनी सूखी रोटियाँ देकर उनकी प्राणरक्षा की थी। बाद में जब स्वामीजी राज-अतिथि हुए, तो वहाँ से आगे जाते समय ट्रेन में वे उसी वृद्धा के पास से बाजरा या पंचमेल आटे की टिक्कड़ ले गये थे और उसे परम तृप्ति के साथ खाया था। स्वामीजी ने कहा था कि वृद्धा की रोटियाँ अति शुद्ध तथा पवित्र हैं।"[२]

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने अलवर पहुँचकर सर्वप्रथम इन्हीं दो निर्धन व्यक्तियों के साथ सम्पर्क बनाया तथा निवास किया था। बाद में क्रमश: उनका शिक्षित तथा सम्पन्न वर्ग के लोगों से सम्पर्क हुआ और वे उन्हीं लोगों के साथ रहने चले गये, क्योंकि नगर के गण्यमान्य लोगों के साथ घनिष्ठता हो जाने के बाद स्वामीजी के लिए यह कदापि सम्भव न था कि वे रामसनेही के घर निवास करते। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वामीजी की जीवनियों में उनके परिव्राजक-जीवन के विवरणों में इन दोनों का उल्लेख नहीं दिखता। बाद में स्वामीजी जब १८९७ में दुबारा अलवर आये, तो उन्होंने इन दोनों को ढूँढ़कर उनसे फिर भेंट की। उस काल के प्रसंगों में ही इनके विवरण प्राप्त होते हैं। इसके अलावा वहाँ लाला गोविन्द सहाय का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता, जबकि स्वामीजी द्वारा उन्हें लिखे गये पाँच पत्रों से स्वामीजी के साथ उनकी घनिष्ठता का प्रमाण मिलता है।

अलवर-निवास का मुख्य विवरण

स्वामीजी के राजस्थान-प्रवेश तथा अलवर में निवास का

२. विश्वपथिक विवेकानन्द (बँगला ग्रन्थ), सं. १९९६, पृ. १९१

जो प्रचलित विवरण प्राप्त होता है, वह काफी विस्तृत तथा रोचक है। यह सर्वप्रथम बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के ९वें वर्ष के प्रथम दो अंकों (जनवरी-फरवरी १९०७) में प्रकाशित हुआ था। लेखक के नाम के स्थान पर लिखा था – श्री श्रमणक। अनुमान है कि इस पत्रिका के तत्कालीन सम्पादक स्वामी शुद्धानन्द ने ही इसे संकलित किया था। स्मरणीय है कि १८९७ ई. में वे भी स्वामीजी के साथ अलवर गये थे और सम्भवत: तभी इसे लिपिबद्ध कर लिया था। बाद में यह लेख 'विश्वपथिक विवेकानन्द' ग्रन्थ (पृ. १३९-१५६) में पुनर्मुद्रित हुआ है। स्वामीजी के अलवर-प्रवास के विवरण हेतु हमें मुख्यत: इसी लेख पर निर्भर होना पड़ता है।

उपरोक्त विवरण के अनुसार – स्वामीजी रेलवे स्टेशन पर उतरने के बाद उस स्थान का प्राकृतिक सौन्दर्य देखते हुए नगर में प्रवेश[३] करने को पश्चिम की ओर चलने लगे। चारों ओर उद्यान तथा खेतों के विस्तार के बाद भवनों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ, थोड़ी दूर बाद पथ दो भागों में बँटकर उत्तर तथा दक्षिण की ओर चला गया था। इन दोनों मार्गों के बीचो-बीच अलवर का उच्च-विद्यालय है। स्वामीजी ने वहाँ पूछकर जान लिया कि उत्तर के मार्ग पर निकट ही पुरातन नगर के (मालखेड़ा) द्वार के पास जो सरकारी चिकित्सालय है, उसके डॉक्टर बंगाल के हैं। चिकित्सालय के सामने पहुँचते ही स्वामीजी ने वहाँ एक बंगाली सज्जन को देखकर समझ लिया कि ये ही वे चिकित्सक हैं और उनसे अपनी मातृभाषा (बँगला) में सम्बोधित करके बोले, "महाशय, क्या यहाँ साधु-संन्यासियों को रहने के लिए थोड़ा-सा स्थान मिल सकता है?"

डॉ. लस्कर से भेंट

डॉ. गुरुचरण लस्कर दवाखाने के द्वार पर खड़े दूर से ही स्वामीजी को देख रहे थे और क्रमश: उनके मन में स्वामीजी के प्रति श्रद्धा का उदय हो रहा था। स्वामीजी द्वारा निकट आकर अपनी मातृभाषा में प्रश्न करते ही डॉक्टर ने उन्हें प्रणाम करते हुए उत्तर दिया, "अवश्य! आज्ञा हो तो अभी ले चलूँ।" और उन्हें साथ लेकर वे चिकित्सालय तथा विद्यालय के बीच में स्थित बाजार (भवन) के ऊपर गए और एक कमरा दिखाकर बोले, "फिलहाल यहीं ठहरने में आपको कोई कष्ट तो नहीं होगा?" स्वामीजी बोले, "बिल्कुल नहीं।"

इसके बाद डाक्टर ने आवश्यक वस्तुएँ मँगवा दीं। स्वामीजी के साथ केवल एक काषाय वस्त्र, एक कम्बल में लिपटीं कुछ पुस्तकें और एक कमण्डलु था। भ्रमण-काल में वे पुस्तकों को कम्बल में बाँधकर अपने कन्धों पर वहन करते थे। सभी चीजों की व्यवस्था करने के बाद डाक्टर अपने एक मुसलमान मित्र (जो पूर्वोक्त विद्यालय में उर्दू तथा फारसी के शिक्षक थे) के पास जाकर बोले, "मौलवी साहब, एक बंगाली दरवेश को देखना हो तो आइए। ऐसे महात्मा कभी देखने में नहीं आए। आप जरा उनके साथ बातचीत कीजिए, मैं अपना काम-काज निपटाकर आता हूँ।" मौलवी साहब तत्काल उनके साथ स्वामीजी के पास जा पहुँचे और खाली पाँव कमरे में प्रविष्ट होकर उन्होंने भक्तिपूर्वक स्वामीजी को सलाम किया। स्वामीजी ने बड़े यत्नपूर्वक उन्हें अपने पास बैठाया और उनके साथ धर्मचर्चा करने लगे। अनेक बातों के बाद स्वामीजी बोले, "कुरान का एक खास गुण यह है कि ग्यारह सौ वर्ष पूर्व वह जैसा प्राप्त हुआ था, आज भी वह वैसे ही विशुद्ध रूप में विद्यमान है। किसी ने उसके भीतर कलम नहीं चलाया है।"

स्वामीजी के साथ दो-चार बातें करने के बाद ही गुरुचरण समझ गए थे कि ये एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। अपने कर्मस्थल पर पहुँचते ही उन्होंने वहाँ आने वाले लोगों को स्वामीजी के आगमन का संवाद देना आरम्भ कर दिया। काफी अल्प समय में ही नगर के विभिन्न स्थानों से अनेक लोग उनका दर्शन करने को आने लगे। डाक्टर महाशय अपना दैनन्दिन कार्य समाप्त करने के बाद स्वामीजी को अपने आवास पर ले गए और भोजन के उपरान्त पुन: उसी कमरे में ले आए। लोगों का आना-जाना क्रमश: बढ़ने लगा, फारसी शिक्षक के मुसलमान मित्रगण भी दल-के-दल आते और स्वामीजी की धर्मचर्चा सुनकर अपने को कृतार्थ मानते। धर्मोपदेश के समय स्वामीजी कभी कोई उर्दू गीत या कोई हिन्दी भजन गाते, तो कभी उपनिषद्-गीता-बाइबिल-कुरान-पुराण आदि धर्मशास्त्रों के वचन उद्धृत करके, अथवा कभी बुद्ध, शंकर, रामानुज, नानक, चैतन्य, कबीर, तुलसीदास तथा अपने गुरुदेव के जीवन से विविध घटनाएँ शास्त्र-वाणी के प्रमाण-स्वरूप उल्लेख करते हुए सबको धर्म के सार की शिक्षा प्रदान करते।

इसी प्रकार दो-तीन दिन बीत जाने के बाद उनके अनुरागियों ने आपस में सलाह करके सोचा कि स्वामीजी को नगर के बीच में स्थित किसी मकान में रखें तो सबको वहाँ जाकर उनके दर्शन तथा सेवा की सुविधा मिल सकेगी। वे लोग आपस में ऐसा निश्चित करके स्वामीजी को पण्डित शम्भुनाथ जी के मकान पर ले गए। शम्भुनाथ जी एक वृद्ध ब्राह्मण थे, जो अलवर राज्य के भूतपूर्व इंजीनियर और अब पेंशनभोगी थे।

❖ (क्रमश:) ❖

(अगले अंक में स्वामीजी के अलवर-निवास का बाकी विवरण और वहाँ के अनेक युवकों का उनसे प्रभावित होकर उनका शिष्य तथा अनुगामी बनना।)

३. अलवर नगरी उन दिनों परकोटे या चहारदिवारी से घिरी हुई थी, नगर के विस्तार के कारण अब प्राय: उसका नामो-निशान तक मिट चुका है। दवाखाना नगर के मालखेड़ा गेट पर स्थित था। वह दवाखाना बाद में अस्पताल में परिणत हुआ और वर्तमान में उस भवन में एक विद्यालय चल रहा है।

धर्म-दर्शन और विज्ञान

डॉ. ए. पी. राव

(लेखक नेपाल के एवरेस्ट ईंजिनियरिंग कॉलेज, काठमाण्डू तथा पोखरा विश्वविद्यालय के पूर्व-प्राचार्य और सम्प्रति एल.एन.सी.टी. भोपाल में भौतिकी के विभागाध्यक्ष हैं। डॉ. सीमा मोहरिर, पी.एच.डी ने इस लेख का अंग्रेजी भाषा से हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

धर्मशास्त्र, दर्शन-शास्त्र और भौतिक-विज्ञान ! ऐसा प्रतीत होता है कि हम तीन भिन्न-भिन्न विषयों पर कुछ कहने जा रहे हैं। तीनों विषय अलग-अलग तो हैं, परन्तु सिर्फ साधारण या सतही तौर पर! वरना, ये तीनों एक ही विषय के अलग-अलग पहलू मात्र हैं और तीनों का उद्देश्य उस परम सत्य की खोज है, जिसे हम 'ईश्वर' जैसा कुछ नाम देते हैं।

प्रकृति के सत्यों को खोजना, मानवीय बुद्धि के लिए ग्रहणीय नियमों में उन्हें बैठाना और प्रयोगों द्वारा उसे आम आदमी को समझाना – भौतिक-विज्ञान का काम है। ज्यों-ज्यों विज्ञान प्रगति कर रहा है, त्यों-त्यों उसके सत्य बदलते जा रहे हैं। विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा जिसे हम सत्य कहते हैं, अगले दिन दूसरा प्रयोग उसे असत्य साबित करके नया सत्य स्थापित कर देता है और इस तरह विज्ञान किसी भी विषय में अब तक पूर्ण सत्य तक नहीं पहुँचा है। यथा – आज हम मानते हैं कि प्रकाश 'दोहरा' व्यवहार करता है –कभी वह 'तरंग' के जैसा प्रतीत होता है और कभी लगता है कि वह 'फोटोन' नामक असंख्य कणों से बना हुआ है। प्रकाश की एक ही किरण 'डिफरेक्शन' प्रयोग में कहती है कि 'मैं तरंग हूँ' और 'फोटो इलेक्ट्रिक एफेक्ट' प्रयोग में बताती है कि 'मैं कण हूँ'। अब तक हमें प्रकाश के इन दो ही प्रकारों का ज्ञान है ! प्रकाश अपने को ऐसे न जाने कितने प्रकारों में व्यक्त कर सकता हो? यही विज्ञान की सीमा है। प्रकाश के विषय में मूल प्रश्न तो है कि यह तरंग है अथवा कण? वैज्ञानिक कहता है एक प्रयोग में ये 'कण' और दूसरे में वही 'तरंग' है। क्या इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि 'कण' या 'तरंग' प्रकाश की अभिव्यक्ति के मात्र दो माध्यम हैं, न कि उसके दो प्रकार और यह केवल प्रकाश के साथ होने वाले हमारे सम्बन्ध की विशेषता है। यह मानो ऐसा ही हुआ, जैसे कि मैं कहूँ – यह व्यक्ति अच्छा है और आप कहें – बुरा है। प्रश्न उठता है – वह व्यक्ति क्या है अच्छा या बुरा? मेरा उसके साथ जो सम्बन्ध है, उसमें (अर्थात् एक प्रयोग में) वह अच्छा प्रतीत होता है और आपका उसके साथ जो सम्बन्ध है, उसमें (अर्थात् दूसरे प्रयोग में) वह बुरा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यदि हम और प्रयोग करें, तो वह अच्छे और बुरे से परे भी प्रतीत हो सकता है।

यही वह बिन्दु है, जहाँ धर्म तथा दर्शन प्रकट होते हैं। वे कहते हैं – वस्तु वैसी ही है, जैसा हमं सोचते या अनुभव करते हैं। वे श्रद्धा शब्द का उपयोग करते हैं। तो क्या यह सच नहीं है कि आँखें खुली होने पर भी हम सिर्फ उतना ही देखते हैं, जितना कि हमारा दिमाग स्वीकार करता है? क्या इसका अर्थ यह नहीं कि आँख का काम देखना तो है, पर शासन उस पर कोई और (मस्तिष्क) कर रहा है।

अब हम देखेंगे कि धर्म, दर्शन और विज्ञान (एक ही क्रिया की विभिन्न सीढ़ियाँ या स्तर होने के बावजूद) पूर्णत: अलग-अलग क्यों प्रतीत होते हैं? विज्ञान के ही उदाहरण से इसे समझें। शुरू में विज्ञान के छात्र के लिए भौतिकी, रसायन, गणित, जीव-विज्ञान आदि भिन्न-भिन्न विषय हैं। इसके बाद वह मेडिकल साईंस, इंजीनियरिंग आदि पढ़ता है और उसके बाद स्थान आता है टेक्नॉलाजी या प्रौद्योगिकी का। किसी नये व्यक्ति के लिए 'विज्ञान' विषय का अर्थ बस 'विज्ञान' है। उसके कितने विभाग हैं, वे कैसे अलग-अलग हैं, आदि वह नहीं समझता। 'विज्ञान' अर्थात् एक विज्ञान। इसी प्रकार पी.एच.डी. करनेवाले एक शोधछात्र के लिए भी विभिन्न विषय अलग-अलग नहीं हैं; वह उनके आपसी सम्बन्धों को देख और समझ लेता है। इसी प्रकार जब हम 'ईश्वर की खोज' पर चर्चा करते हैं, तो हम धर्म, दर्शन तथा विज्ञान को अलग-अलग मानते हुए भी, उनमे निहित सम्बन्ध को देख पाते हैं कि ऊपरी तौर पर वे भले ही भिन्न-भिन्न दिखते हैं, पर हैं वे एक ही क्रिया के विभिन्न रूप।

शुरू में पश्चिम के लोगों ने बाह्य उन्नति को और पूर्व के लोगों ने आत्मिक उन्नति को ही महत्त्व दिया था। अत: पश्चिम ने विज्ञान के प्रयोग किये और पूर्व ने धर्म के। दोनों के अन्तिम लक्ष्य समान हैं, पर दोनों पूर्णरूपेण सफल नहीं प्रतीत होते। यदि इन दोनों विचारों को एक साथ रखा जाय, तो लगता है कि विज्ञान जहाँ खत्म होता है, वहाँ दर्शन शुरू होता है और उसके बाद हम धर्म-राज्य में प्रवेश करते हैं, जो हमें परम या पूर्ण सत्य से साक्षात् कराता है। अत: हम पाते हैं कि धर्म, दर्शन तथा विज्ञान तीनों का उद्देश्य है – प्रकृति के मूल तत्त्वों तथा शक्तियों और उनके आपसी सम्बन्ध को जानना।

१९वीं शताब्दी में पाश्चात्य वैज्ञानिक धर्म तथा दर्शन को अवैज्ञानिक कहकर उन्हें नकार देते थे। पूर्व के धर्मवेत्ता भी पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों को 'केवल बाहरी तरक्की' तथा निम्न स्तर का मानते थे। वस्तुत: दोनो ही प्रकृति के उस सत्य की खोज कर रहे हैं, जो छिपा हुआ है ! होकर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। और यह भी सत्य है कि वैज्ञानिक तथा

अध्यात्म-वेत्ता – दोनों को ही अपने-अपने क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए एक-दूसरे की ज्यादा जरूरत नहीं है। परन्तु यदि ये दोनों पद्धतियाँ आपस में मिलकर, एक-दूसरे के सहयोग से आगे बढ़ें, तो प्रगति की गति में काफी वृद्धि हो सकेगी। आज के विज्ञान में बहुत-सी ऐसी बातें है, जिनके उत्तर अधूरे हैं; यथा – समय का चतुर्थ आयाम, क्वांटम फील्ड सिद्धान्त, क्वार्क और हाल ही में वैज्ञानकों द्वारा खोजा गया ब्रह्माण्ड का सबसे सूक्ष्म कण, जिसे डी.एस. २३१७ नाम दिया गया है। उनका कहना है कि इस खोज से पदार्थ का निर्माण करनेवाले आधारभूत तत्त्वों को बेहतर ढंग से समझने में मदद मिलेगी। दूसरी ओर अध्यात्म तथा दर्शन में बहुत-सी ऐसी बातें है, जिन्हें वैज्ञानिक ढंग से समझने की जरूरत है।

क्या भौतिक विज्ञान के 'क्वांटम फील्ड' को हमारे प्राचीन 'व्यष्टि-चेतना फील्ड' के तुल्य नहीं माना जा सकता। ये दोनों ही दिखते तो नहीं, परन्तु हैं जरूर और काम भी करते हैं। क्वांटम-भौतिकी के जनक डॉ. हाइजेनबर्ग ने एक बार कहा था कि सूक्ष्म कणों के सन्दर्भ में विज्ञान के आम नियम लागू नहीं किये जा सकते। आज की भौतिकी कहती है कि दो क्वार्क कणों के बीच की दूरी बढ़ाने पर, इन्हें आपस में बाँधनेवाला बल अधिक सबल हो जाता है। साधारण भौतिकी के नियमानुसार यह बिल्कुल उल्टा है। वैसे भी आज नवीन भौतिकी, परा-भौतिकी और क्वांटम जैसे नये विषयों ने लंदन के 'रॉयल कोर्ट ऑफ साईंस' को भी यह मानने को मजबूर कर दिया है कि सिर्फ दिखनेवाला प्रयोग ही प्रयोग नहीं है। 'क्वांटा का सिर्फ अनुभव किया जा सकता है' – जैसी बातें भी आज विज्ञान स्वीकार करता है। ये ही बातें दर्शन और धर्म पहले से ही कहते आ रहे हैं, पर विज्ञान अब समझ रहा है।

वस्तुत: जैसे-जैसे विज्ञान प्रगति कर रहा है, वैसे-वैसे वह पूर्व के दर्शन और धर्मशास्त्र के निकट आता जा रहा है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति या ईश्वर द्वारा की जाती है और यह बड़ी युक्तिसंगत बात है कि प्रकृति जो भी उत्पन्न करती है, उसका कुछ-न-कुछ उपयोग अवश्य है। प्रकृति कुछ भी अनुपयोगी पैदा नहीं करती। 'टांसिल' बढ़ जाने से गले में दर्द होने पर चिकित्सा-वैज्ञानिक डॉक्टर उसे 'शरीर के लिए व्यर्थ तथा अनुपयोगी' कहकर निकाल देता है, परन्तु पूर्व का अध्यात्म-विज्ञान बताता है कि जिस व्यक्ति का टांसिल निकाल दिया गया हो, उसके लिए मौन धारण करके साधना या ध्यान करना बड़ा कठिन और प्राय: असम्भव है।

हममें से अधिकांश लोग सोचते हैं कि हमारे जीवन का भला क्या उद्देश्य और महत्त्व है? – कुछ नहीं। हमारे जैसे हजारों पैदा होते हैं और मर जाते हैं। क्या सचमुच ऐसा है? शायद नहीं! आज वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद लाखों वर्षों तक इस पर केवल अमीबा-जैसे 'एककोशीय' जीवाणुओं का वास था, जिनकी आयु कुछ मिनटों से भी कम थी और कार्य था वायुमण्डल की कार्बन-डाई-ऑक्साइड को ऑक्सीजन में बदलना। उन जीवाणुओं को प्रकृति ने पैदा किया था। वे अपने जीवन का उद्देश्य और महत्त्व नहीं जानते थे। उनका जीवन एक बड़ी 'प्रोग्रैमिंग' (परियोजना) का एक हिस्सा था, जिसके द्वारा प्रचुर मात्रा में ऑक्सीजन जमा होने के बाद हम मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को यहाँ होना था। दरअसल हमारी आयु, हमारी दृष्टि इतनी सीमित है कि जीवन को उसके पूर्ण विस्तार में देख और समझ पाना हमारे बस की बात नहीं है।

पूर्व के विचारक एक कहानी के माध्यम से समझाते हैं कि वैज्ञानिकों, आध्यात्मिकों, सत्य के अनुसन्धाताओं तथा नवीन की खोज करनेवाले सभी लोगों को क्या करना होगा।

एक राजा के मरने के बाद उसकी सम्पत्ति को उसके तीन बेटों में इस प्रकार बाँटना था कि पहले को आधा, दूसरे को एक तिहाई और तीसरे को नौवाँ हिस्सा मिले। बाकी सम्पत्ति तो इस हिसाब से बाँट दी गई, परन्तु बच गये १७ हाथी, क्योंकि उन्हें तो १/२, १/३ और १/९ के हिसाब से बाँटा नहीं जा सकता था। परन्तु चूँकि राजा की इसी हिसाब से बाँटने की इच्छा थी, अत: पूरी राजधानी में ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि जो कोई ऐसा कर दिखायेगा, उसे भारी इनाम मिलेगा। बड़े-बड़े विद्वानों के दिमाग चक्कर खा गये। तभी अपने हाथी पर बैठे एक साधु का नगर में आगमन हुआ। मुनादी सुनने के बाद वह बोला – "इसमें कौन-सी बड़ी बात है। मैं अभी कर देता हूँ।" सभी विस्मित रह गये। जो काम इतने पढ़े लोग न कर सके, उसे ये अपढ़ साधु कैसे कर सकेंगे?

साधु ने उन १७ हाथियों के साथ अपना हाथी भी खड़ा कर दिया। फिर पहले राजकुमार को बुलाकर उसका आधा (१/२) हिस्सा अर्थात् ९ हाथी, दूसरे को एक तिहाई (१/३) अर्थात् ६ हाथी और तीसरे राजकुमार को नौवाँ (१/९) अर्थात् २ हाथी दे दिये। इस तरह नौ, छह और दो यानी १७ हाथी बाँटने के बाद साधु का अपना हाथी बचा रह गया। वे उस पर सवार होकर वापस अपने मठ में चले गये।

तात्पर्य यह है कि जब तक आप स्वयं अपने को समस्या में झोंक दें, वह हल नहीं होती। और मजा यह है कि समस्या का समाधान होने पर अपना हिस्सा भी कही जाता नहीं, बल्कि हमें वापस मिल जाता है। यह कहानी वैज्ञानिक और आध्यात्मिक – दोनों ही प्रकार के खोजों पर समान रूप से लागू होती हैं।

अत: यदि हम अध्यात्म के अध्ययन में विज्ञान का सहारा लें और विज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए अध्यात्म की मदद लें, तो इससे मानव-मात्र की प्रगति को बढ़ावा मिलेगा। और इसी कारण हम विज्ञान, दर्शन और धर्म के सन्दर्भ में एक सूक्ष्म तन्तु से जुड़े अदृश्य सम्बन्ध की खोज करते हैं। ❑❑❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

२६-८-१९२०

अम्ब त्वाम् अनुसन्दधामि भगवद्गीते भव-द्वेषिणिम् – "हे भव-बन्धन का नाश करनेवाली भगवती गीते, मैं तुम्हारा ध्यान करता हूँ।" गीता के अध्ययन से निश्चय ही भवरोग की शान्ति होती है। तिलक के 'गीता-रहस्य' को मैंने बँगला में नहीं, हिन्दी में पढ़ा है। माधव सप्रे ने उसका अनुवाद किया है। मेरी धारणा है कि तिलक ने निरपेक्ष रूप से विचार नहीं किया है। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने काफ़ी परिश्रम के साथ इसे कालोपयोगी बनाने का प्रयास किया है।

प्रगति धीरे-धीरे ही होती है और वही उचित भी है। स्वयं ही अनुकूल परिवेश तैयार कर लेना पड़ता है। क्रमश: सब होता है।

यह सच है कि ज्ञान हुए बिना अनासक्त नहीं हुआ जा सकता, परन्तु अनासक्त होने का अभ्यास किया जा सकता है और यदि दीर्घकाल तक निष्ठा के साथ अभ्यास किया जाय, तो अनासक्ति का अपने आप ही उदय होता है। कर्म करके उसका फल ईश्वर को समर्पित करने पर, उन्हीं की प्रीति के लिए फिर उन्हीं के लिए कर्म कर रहा हूँ – इस बात की अच्छी तरह धारणा हो जाने पर भगवान के प्रति प्रेम होता है और इसी को भक्ति कहते हैं। माँ सन्तान के लिए कष्ट उठाती है, उसकी सुख-सुविधा के लिए सर्वदा कितना प्रयास करती है, परन्तु यह सब उसे कभी भी कर्म नहीं प्रतीत होता। वैसा करने पर ही माँ को सुख मिलता है और इसीलिए वह कर्म नहीं, प्रेम है। ईश्वर के प्रति ऐसा ही प्रेम होने पर उसे भक्ति कहते हैं। भगवान से यदि प्रेम किया जाय, उनके प्रति यदि अपने से भी अधिक अपने होने का बोध हो, तो जीवन धन्य हो जाता है; क्योंकि भगवान ही हमारे प्राणों के प्राण है, हमारे आत्मा की आत्मा हैं।

१३-७-१९२०

सर्वशास्त्रमयी गीता। गीतापाठ कर तुम अपना अभीष्ट लाभ करो, यही मेरी प्रार्थना है।

सत्संग अत्यन्त दुर्लभ है और बड़े कष्ट से प्राप्त होता है। भगवान स्वयं ही तो कहते हैं – **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति** (– हजारों मनुष्यों में कोई एक ही प्रयत्न करता है) इत्यादि। सबका चित्त भोग की ओर ही दौड़ता है। संसार को भला कौन छोड़ना चाहता है? तात्पर्य यह कि सभी सुख भोगना चाहते हैं, दुख नहीं। परन्तु उनके मन में यह नहीं आता की दुखरहित सुख कदापि सम्भव नहीं। महामाया की माया ही ऐसी है, किसी भी तरह चैतन्य नहीं होने देती।

तुम गीता-ध्यान का पाठ करना। जो पढ़ना, उस पर उठते, बैठते, सोते, खाते, पीते सर्वदा मन-ही-मन विचार करना। ऐसा करने पर गीता का मर्म हृदय में स्फुरित होगा और इसी से तुम्हें शान्ति मिलेगी। **सेवा करने से मेवा मिलता है, यह परम अकाट्य सत्य है।** गीता के १४वें अध्याय में वर्णित गुणातीत अवस्था की उपलब्धि हो जाने पर मुक्ति अनिवार्य है। वहाँ पर गुणातीत का लक्षण, उस अवस्था की प्राप्ति का उपाय आदि स्पष्ट रूप से वर्णित हैं –

मां च योऽव्याभिचारेण भक्तियोगेन सेवते
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

– 'जो अनन्य भक्ति के साथ मेरा सेवन करता है, वह गुणों के अतीत होकर ब्रह्मभाव की उपलब्धि करता है।' (२६)

और इसका कारण यह भी दिया हुआ है –

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।

– 'क्योंकि अमृत अविनाशी ब्रह्म, शाश्वत धर्म और अबाध सूख मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं। (२७)

अत: इस १४वें अध्याय का भलीभाँति अभ्यास और धारणा कर पाने पर और किसी भी चीज की जरूरत नहीं रह जाती। दूसरे अध्याय में उन्होंने जो स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताए हैं, उसी को १४वें अध्याय में दूसरे ढंग से कहा है। १२वें अध्याय में भी – **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** से लेकर अध्याय के अन्त तक पुन: उन्हीं उभय लक्षणों से युक्त भक्त का ही सुन्दर वर्णन है। भक्त अपने साथ मिलाकर देखं सके, इसी कारण भगवान ने बारम्बार इन लक्षणों का उल्लेख किया है।

८-८-१९२०

तुम लोगों के आश्रम में कृषि और शिल्प की शिक्षा का प्रयास हो रहा है, यह जानकर मैं विशेष आनन्दित हुआ। यही तो चाहिए। अब ऐसा ही करना होगा। सभी विषय स्वयं सीखकर लोगों को शिक्षा देनी होगी। शिक्षा के अभाव में ही तो हमारी इतनी अवनति हुई है। हार्दिक प्रयास रहने पर किसी भी चीज़ का अभाव नहीं रह जाएगा। माँ ही सब ठीक कर देंगी। अच्छा हो रहा है। ऐसे ही बढ़े चलो। समझ लेना कि भगवान की इच्छा है इसीलिए तुम लोगों के चित्त में ऐसी प्रेरणा का उदय हो रहा है।

२००३-०४ के लिये रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी समिति की रिपोर्ट का सारांश

मिशन की **९५वीं वार्षिक साधारण सभा** बेलूड़ मठ में १९ दिसम्बर, २००४ को अपराह्न ३.३० बजे आयोजित हुई।

२००३-०४ श्रीमाँ सारदादेवी का १५०वाँ जन्म-वर्ष है। विश्वव्यापी रामकृष्ण मठ एव मिशन के शाखा-केन्द्रों में **श्रीमाँ सारदादेवी की १५०वीं जन्म-वार्षिकी** के अवसर पर उत्सव का सम्यक् आयोजन किया गया। इस स्मरणोत्सव के दौरान हमारे शाखा-केन्द्रों द्वारा विभिन्न सांस्कृतिक एवं सेवा कार्यक्रमों का शुभारम्भ किया गया।

कोलकाता स्थित स्वामी विवेकानन्द के जन्म-स्थान एवं पैतृकगृह की भूमि पर २६ सितम्बर २००४ को **'रामकृष्ण मिशन स्वामी विवेकानन्द पैतृकगृह एवं सांस्कृतिक केन्द्र'** नामक रामकृष्ण मिशन की एक नयी शाखा खोली गयी। यह शाखा एक पाठ्य पुस्तक ग्रथागार, एक शोध-केन्द्र, ग्रामीण एवं बस्ती विकास केन्द्र आदि से युक्त एक सुन्दर सांस्कृतिक केन्द्र है।

इस वर्ष की **महत्वपूर्ण घटनाओं** में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : बिहार में छपरा तथा मुजफ्फरपुर शाखाओं का शुभारम्भ, वृन्दावन स्थित सेवाश्रम में चक्षु विभाग तथा बाँकुड़ा सेवाश्रम की डिस्पेंसरी में पैथोलोजिकल परीक्षा-केन्द्र का उद्घाटन, लखनऊ सेवाश्रम के विवेकानन्द पॉली-क्लीनिक में तन्त्रिका-विज्ञान इकाई, १२ शय्यावाले गहन चिकित्सा इकाई, ८ शय्यावाले विशेष शिशु चिकित्सा इकाई, १२ शय्यावाले नवजात शिशु गहन चिकित्सा इकाई, ५ शल्य-चिकित्सा कक्ष तथा ४ शय्यावाले डायलिसिस इकाई का प्रारम्भ तथा उत्तरांचल के कनखल स्थित सेवाश्रम में पैथोलोजिकल परीक्षा-केन्द्र में उपयोग में आनेवाले कई आधुनिक परीक्षण यन्त्रों का उद्घाटन। साथ ही अरुणाचल में ईटानगर स्थित अस्पताल में पूर्णावयव सीटी स्कैनर, दो विशिष्ट केबिन तथा कलर डॉपलर मशीन सेवार्पित किये गये।

शैक्षणिक क्षेत्र में भारतीय राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक स्वतंत्र संस्था) ने हमारे नरेन्द्रपुर महाविद्यालय (प्राप्तांक ८५-९०%) को ५ वर्षो के लिए 'ए' श्रेणी घोषित किया है। राष्ट्रीय विज्ञान ओलिम्पियड संस्था, नई दिल्ली ने झारखण्ड स्थित देवघर विद्यापीठ को सर्वश्रेष्ठ विद्यालय पुरस्कार से सम्मानित किया है। सामुदायिक विकास कार्य में अरुणाचल प्रदेश स्थित हमारे ईटानगर केन्द्र के विशेष अवदान की स्वीकृति के रूप में पोपम पारे जिला प्रशासन ने हमारे केन्द्र को *वारियर एलवीन वार्षिक पुरस्कार* के प्रथम प्राप्तकर्ता के रूप में चयन किया है। पश्चिम बंगाल स्थित सारदापीठ केन्द्र के शिल्पायतन ने राष्ट्रीय शैक्षणिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) से *पश्चिम बंगाल सर्वश्रेष्ठ विद्यालय-उद्योग संयोजन पुरस्कार २००३* प्राप्त किया।

रामकृष्ण मठ की गतिविधियों में पश्चिम बंगाल के कूच बिहार में एक नये शाखा-केन्द्र का खोला जाना, कर्नाटक राज्य के दूर-दराज गाँवों में व्यक्तित्व विकास, नैतिक शिक्षा आदि कार्यक्रमों के परिचालन हेतु मैसूर के आश्रम द्वारा ज्ञानवाहिनी योजना का शुभारम्भ तथा मैसूर विद्याशाला में उच्च शिक्षा विभाग के लिए स्वर्ण जयन्ती भवन का उद्घाटन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस वर्ष के दौरान करीब २.६६ करोड़ रुपये खर्च कर मिशन ने देश के विभिन्न भागों में बृहत् पैमाने पर **राहत और पुनर्वास** के कार्य किये, जिससे ७५९ गाँवों के ६५,००० परिवारों के लगभग २.५५ लाख लोग लाभान्वित हुए।

निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति तथा वृद्ध, बीमार एवं असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि **कल्याण-कार्यों** में १.९८ करोड़ रुपये व्यय हुए।

१० अस्पतालों एवं भ्रम्यमान चिकित्सा-इकाइयों सहित १२७ चिकित्सा-केन्द्रों द्वारा करीब ६२.६१ लाख रोगियों को **चिकित्सा-सेवा** प्रदान की गयी, जिसके तहत २६.८१ करोड़ रुपये खर्च हुए।

देश भर में फैले हमारे शिक्षा-संस्थानों के द्वारा, बाल-विहार से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक के १.८२ लाख विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गयी, जिनमें ७० हजार से भी अधिक छात्राएँ थीं। शिक्षा-कार्य में ८४.५२ करोड़ रुपये खर्च किये गये।

११.६१ करोड़ रुपये व्यय करके कई ग्रामीण एवं आदिवासी विकास-योजनाओं का भी कार्यान्वयन किया गया।

इस अवसर पर हम अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके हार्दिक एवं निरन्तर सहयोग के लिए आन्तरिक धन्यवाद एवं कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

स्वामी स्मरणानन्द
महासचिव